भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि

(मौलिक चिन्तन प्रधान प्रवचन)

प्रवचनकर्त्री

आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी म0 की आज्ञानुवर्तिनी

स्व0 महासती उज्ज्वल कुमारी जी म0 की शिष्या

साध्वी डॉ0 दिव्यप्रभाजी (एम0 ए0, पी0 एच0 डी0)

प्रकाशक

उमरावमल चोरड़िया, जयपुर

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

आत्म-आनन्द दीक्षा-जन्म शताब्दी समारोह
के शुभ उपलक्ष्य में

वचन: साध्वी डॉ0 दिव्यप्रभाजी **प्रवचन-स्थल** : जयपुर वर्षावास सन् १९८९
काशन वर्ष : १९९२ वि0 स0 २०४९, **प्रकाशक** : प्राकृत भारती अकादमी एव
उमरावमल चोरड़िया **अध्यक्ष** : अ0 भा0 श्वे0 स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स (राजस्थान
संभाग) १३, तख्ते शाही रोड़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर : **फोन** . ५६१९४३
५६३७०४ **प्राप्ति स्थान**.– जैन पुस्तक मन्दिर, भारती भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर :
मुद्रण व्यवस्था . प्रेमचन्द जैन, प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, १/११, साहित्य कुँज,
आगरा - २ **फोटो टाइप सैटिंग** . दिवाकर टैक्सटोग्राफिक्स, आगरा। लागत मात्र
मूल्य . ५१.०० रु. इक्यावन रुपया।

समर्पण
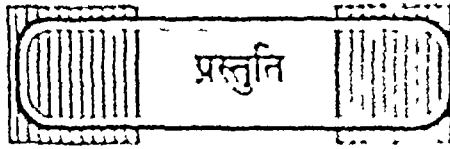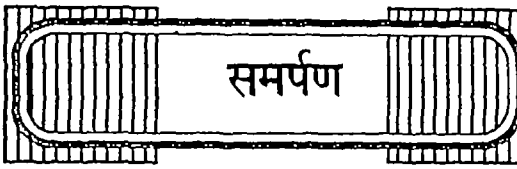
आचार्य भगवन्त के चरणो मे

जिन शासन के श्रुतधर !

कलिकाल के प्रभुवर !

तुम्हारे चरणो मे नमस्कार

कर लो इसको तुम स्वीकार !

क्योंकि—तुम्हारा ही तुम्हें अर्पण है

तव आशीष का सवेदन है।

सोचती हूँ—

यह मानतुग का कीर्तन है

या तुम्हारा निकेतन है।

लगता है—तुम प्रतिमूर्ति हो मानतुग की

मेरे हृदय आकाश तरग की

तुम्हारा कीर्तन मेरा वतन है

तुम्हारा ही तुम्हें अर्पण है।

पूज्यवर !

मेरे भावो को स्वीकार करो

प्रभु से मेरी मनुहार करो

तुम्हारा आशीष नित-नूतन है

तुम्हारा ही तुम्हें, अर्पण है।

सच ही तुम—

मेरे जीवन के वरदान हो

इस कृति की मुस्कान हो

तुम्हारा आसन शासन सनातन है

तुम्हारा ही तुम्हें अर्पण है।

—साध्वी दिव्या

आत्म-आनन्द दीक्षा-जन्म शताब्दी वर्ष

लुधियाना

प्रकाशकीय

श्रमण भक्ति परम्परा मे आचार्य मानतुगरचित भक्तामर स्तोत्र का एक विशिष्टतम स्थान है। शताब्दियो से भक्तजनों का यह कण्ठाभरण रहा है और वे प्रातःकाल मे स्मरणीय स्तोत्रों मे मगल पाठ करते आ रहे हैं। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओ की सीमा से मुक्त यह स्तोत्र सर्वमान्य एव सम्मान्य है।

अन्तःसाक्ष्य प्रमाणों के अभाव में कविवर आचार्य मानतुग व इस स्तोत्र का समय निश्चित करना सभव नहीं है। श्रुति परम्परा से कई विद्वान इनका समय मालवपति महाराज भोज का समय निर्धारित करते हैं, तो कई विद्वान महाकवि बाणभट्ट के समय महाराजा हर्षवर्धन का समय मानते हैं तथा कई विद्वान इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी के आस-पास का स्वीकृत करते हैं। उद्भट विद्वान सिद्धर्षि गणि (जिनका समय दशवी शताब्दी निश्चित है) ने उपदेश-माला टीका "हेयोपादेया" में भक्तामर का एक पद्य उद्धृत किया है, इससे निश्चित है कि इनका सत्ता काल नवमी शताब्दी के पश्चात का तो नहीं है, इससे पूर्व कभी भी हो।

परम्परागत दृष्टि से स्तोत्र की पद्य सख्याओं में भी अन्तर है। कुछ विद्वान अड़तालीस पद्य मानते हैं और कुछ चौवालीस। अष्टप्रातिहार्यों की दृष्टि से पद्य अड़तालीस ही होने चाहिए।

स्तोत्र की प्रसिद्धि इतनी रही है कि प्रमुख ज्ञान भडारों मे कम से कम दस से लेकर पचास से भी अधिक हस्त प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। इसकी स्वर्णाक्षरी एव सचित्र प्रतियाँ तथा काव्य-मत्र-यत्र गर्भित प्रतिया भी प्राप्त हैं।

इसका व्यापक प्रसार और लेखको का अत्यन्त प्रिय स्तोत्र होने से अनेक मनीषियों ने इस पर प्रचुर मात्रा मे सस्कृत भाषा में टीकाएँ और जन भाषा में बालावबोध लिखे हैं जो निम्न हैं –

१	भक्तामर स्तोत्र टीका	गुणरत्नसूरि (र स १४२६)
२	,, ,, ,,	कनककुशल (र स १६३२)
३	,, ,, ,,	अमरप्रभ-सूरि
४	,, ,, ,,	शान्तिसूरि
५	,, ,, ,,	मेघविजयोपाध्याय (१८वी सदी)
६	,, ,, ,,	रत्नचन्द्र

७. भक्तामर स्तोत्र टीका — समयसुन्दरोपाध्याय (१८वी सदी)
८. ,, ,, ,, — इन्द्ररत्न गणि
९. ,, ,, ,, — चन्द्रकीर्तिसूरि
१०. ,, ,, ,, — हरितिलक गणि
११. ,, ,, ,, — क्षेमदेव
१२ भक्तामर स्तोत्र बालावबोध, मेरुसुन्दरोपाध्याय (१६वीं सदी)
१३ भक्तामर स्तोत्र बालावबोध, शुभवर्धन गणि
१४. ,, ,, ,, , लक्ष्मीकीर्ति

इस स्तोत्र की चमत्कार प्रसिद्धि को ध्यान मे रखकर कथा, चरित्र, माहात्म्य पर भी निम्न लेखको की कृतियाँ प्राप्त हैं –

१ भक्तामर स्तोत्र कथा — ब्रह्मरायमल्ल
२ भक्तामर स्तोत्र चरित्र — विश्व-भूषण
३. भक्तामर स्तोत्र पूजा — श्रीभूषण
४ भक्तामर स्तोत्र माहात्म्य — शुभशील
५. भक्तामर स्तोत्र व्रतोधापन — ज्ञानभूषण
६. ,, ,, ,, — सुरेन्द्र कीर्ति
७ ,, ,, ,, — सोमसेन
८ भक्तामर स्तोत्र पंचांग विधि, —

इस स्तोत्र के अनुकरण पर अनेक दिग्गज कवियो ने प्रचुर परिमाण मे पादपूर्ति स्तोत्र छाया स्तवन भी लिखे हैं; जो निम्न हैं.–

१. नेमि भक्तामर स्तोत्र – भावप्रभसूरि
२. ऋषभ भक्तामर स्तोत्र – समयसुन्दरोपाध्याय
३ शान्ति भक्तामर स्तोत्र – लक्ष्मीविमल
४. पार्श्व भक्तामर स्तोत्र – विनयलाभ
५. वीर भक्तामर स्तोत्र – धर्मवर्धनोपाध्याय
६ सरस्वती भक्तामर स्तोत्र – धर्मसिहसूरि
७. भक्तामर प्राणप्रिय काव्य – रत्नसिह
८ भक्तामर पाद पूर्ति – प हीरालाल
९ भक्तामर पादपूर्ति स्तोत्र – महा० म० प० गिरधर शर्मा
१० भक्तामर स्तोत्र छाया स्तवन – माल्लिषेण
११ भक्तामर स्तोत्र छाया स्तवन – रत्नमुनि

प० बनारसीदास, पं० हेमराज और आनन्दघन के प्राचीन हि[illegible] भी प्राप्त है।

वर्तमान समय में तो इसके हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में [illegible] एव गद्यमय अनुवाद निकल चुके है। कई [illegible] भी [illegible] है।

प्रस्तुत सस्करण का इतिहास–

इस स्तोत्र के कतिपय दैनिक पाठी भक्त और आराधक [illegible] अवश्य है किन्तु इसके रहस्य से अनभिज्ञ है। जयपुर में [illegible] जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक थे और इस स्तोत्र के [illegible] मर्मज्ञ की तलाश मे थे। वार्ता के दौरान [illegible] दिव्यप्रभा जी के गहन अध्ययन की जानकारी प्राप्त हुई। [illegible] बाल्यकाल से ही भक्तामर-पाठी, आराधिका और [illegible] है। [illegible] अनुभूति भी इन्हें है। इनके जीवन का सबल भी [illegible] है।

सयोग से वर्ष १९८९ का चातुर्मास इनका जयपुर में [illegible] आग्रह से साध्वीवर्या ने रविवार को इस पर प्रवचन [illegible] इनके सत्रह (१७) प्रवचन हुए। प्रवचनों के आधार पर [illegible] इसका पुस्तक के रूप में सम्पादन किया है।

ये प्रवचन वस्तुत दिव्यप्रभाजी म० सा० [illegible] चिंतन में गहराई है, अनुभूति है और भक्त हृदय [illegible] है। [illegible] परम्परागत अर्थों पर स्वतन्त्र चिंतन प्रस्तुत करते हुए [illegible] का प्रयत्न भी किया है। इनकी प्रतिपादन शैली से [illegible] भी प्रभावित हुआ है।

प्रवचनों के साथ ही जिज्ञासापरक प्रश्नों का समाधान भी दिव्यप्रभा जी म० सा० ने विस्तार से दिया था। उसका प्रस्तुतिकरण टेपरेकॉर्ड के आधार पर श्री शान्ति कुमार चोरड़िया ने किया है जो परिशिष्ट में दिया गया है।

इस अमूल्य उपहार के लिए हम विदुषी साध्वीरत्ना डॉ० मुक्तिप्रभाजी, साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी, साध्वी अनुपमाजी के भी अत्यन्त आभारी है। इसका व्यवस्थित प्रारूप तैयार करने में महामहोपाध्याय श्री विनय सागर जी की सेवाओं को भी विस्मृत नही किया जा सकता। श्री शान्ति कुमार चोरड़िया भी साधुवाद के पात्र है।

प्रस्तुत पुस्तक प्राकृत भारती के पुष्प–७६ के रूप में इस सयुक्त प्रकाशन को प्रकाशित करते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

पुस्तक को सकलित करने की विशेष प्रेरणा एव आग्रह श्री उमरावमलजी चोरड़िया का रहा, जिस कारण यह सकलन प्रस्तुत हो सका है। पुस्तक के सम्पादन तथा मुद्रण तकनीक की प्रस्तुति मे श्री श्रीचन्द जी सुराणा एव श्री प्रेमचन्द जी जैन, आगरा का पूर्ण योगदान रहा है।

अन्त मे हम आशा करते हैं कि भक्तामर स्तोत्र-पाठी एव आराधको के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी और गहन चितन के साथ "भक्तामर अमर हो" का मार्ग प्रशस्त करेगी।

उमरावमल चोरड़िया
(अध्यक्ष)
अ भा स्था जैन कान्फ्रेस (राजस्थान)

देवेन्द्रराज मेहता
(सचिव)
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

गौरवानुभूति की हेतुता मे सर्वतोभावेन स्तुत्य हैं। जैन स्तोत्रमाला मे स्तोत्रो के जो विविध रूप उपस्थित हैं, उनमे भक्तामर स्तोत्र काफी महत्ता प्राप्त स्तोत्र है। उसके सबध मे अनेक चमत्कार प्रधान गाथाएँ जैन समाज मे सुप्रचलित हैं, जो भक्तामर स्तोत्र के प्रति तर्कातीत श्रद्धा का अद्भुत रूप लिए हुए हैं। यही हेतु है, हजारो भक्त प्रतिदिन भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते हैं। अनेक महानुभाव तो ऐसे हैं कि प्रात काल भक्तामर स्तोत्र का पाठ किये बिना अत्यन्त पिपासित एव बुभुक्षित स्थिति मे भी मुख मे जल की एक बूद एव अन्न का एक कण भी नही डालते हैं।

यह भक्तामर के प्रति श्रद्धा का ही सुपरिणाम है कि उसके अनेक सस्करण अनेक रूपो मे प्रकाशित हो रहे हैं। प्रत्येक प्रकाशन की महत्ता एव गुणवत्ता अपनी एक विशिष्टता रखती है। अत' हम यहा श्रद्धास्निग्ध भक्तो द्वारा सपादित एव प्रकाशित उन सस्करणो मे अच्छे-बुरे की कोई कल्पना नही करते हैं। भक्त द्वारा अपने आराध्य प्रभु के गुणो के सगान के रूप मे अनुगुंजित हुए स्तोत्रो के प्रकाशनों में अच्छे-बुरे के विकल्प हो भी कैसे सकते हैं!

प्रस्तुत मे यहा डॉ साध्वीरत्न श्री दिव्यप्रभाजी द्वारा परिभाषित एव सम्पादित भक्तामर स्तोत्र के सबध मे कुछ पंक्तियॉ उपस्थित कर रहा हूँ। यह सस्करण अपनी एक महती विशिष्टता रखता है। श्री दिव्यप्रभाजी ने अपनी प्रतिभा का श्लाघनीय उपयोग करके भक्तामर स्तोत्र के श्लोको मे अन्तर्निहित आध्यात्मिक भावना को प्रस्फुटित किया है। शब्द का महत्त्व अवश्य है किन्तु जब तक शब्द मे निहित भावार्थ एव परमार्थ की ज्योति को उद्भासित न किया जाए, तब तक भक्तहृदय लोकोत्तर दिव्य आलोक से आलोकित नही हो सकता, जो कि आध्यात्मिक शक्ति के जागरण के हेतु नितान्त आवश्यक है।

मैं नेत्र-ज्योति की क्षीणता के कारण स्वय पठन मे अशक्त हूँ। अत. प्राप्त पुस्तक मे से इतस्तत' जो सुन पाया हू उस पर से कह सकता हूँ कि श्री दिव्यप्रभाजी वस्तुत दिव्यप्रभा है। भक्तामर स्तोत्र के परमार्थ को उद्घाटित करने मे उन्होंने जो एक नई दिशा की ओर प्रयाण किया है, वह अन्तर्हृदय से श्लाघनीय है, समादरणीय है। सभव है, अभिधावादी तर्कशील मनीषी साध्वी श्री दिव्यप्रभाजी की कुछ प्रकल्पित धारणाओ से सहमत न भी हो तथापि इतना तो कहना ही होगा कि उनका यह सुप्रयास कथचित् साधुतावाच्य अवश्य है। एतदर्थ वे शतसहस्रश साधुवादार्ह हैं। आशा ही नही विश्वास है स्तोत्रप्रिय भक्तजगत मे भक्तामर स्तोत्र का यह सस्करण भक्त की अन्तश्चेतना मे अन्तर्निहित परात्पर परमचैतन्य भाव को जागृत करने मे अपना समुचित योगदान दे सकेगा। भक्त हृदय की श्रद्धा को अधिकाधिक उद्दीप्त कर पायेगा।

मैं श्री दिव्यप्रभाजी के प्रति आशान्वित हूँ कि वे भविष्य में [illegible] और अन्य अनेक स्तोत्रों को भी इसी प्रकार अपने प्रतिभापूर्ण [illegible]। उनकी रचना का प्रवाह इधर-उधर कहीं अवरुद्ध [illegible] निरन्तर गतिशील होता रहे, यही प्रभुचरणों में [illegible] है।

वीरायतन
राजगृह, दिहार
देव प्रबोधिनी एकादशी १९९१

-उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादकीय

'भक्तामर' शब्द से आप अवश्य परिचित होगे लेकिन भक्तामर के रहस्यो से आप कितने परिचित हैं इसका मुझे पता नही और न ही इसका पता है कि इसके पारिभाषिक अर्थ से आप कितने परिचित हैं।

कुछ शब्द दो प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति देते हैं–एक शाब्दिक अर्थ, दूसरा पारिभाषिक अर्थ। पारिभाषिक अर्थ का ज्ञान गुरु के बिना सहज नही है। गुरु या आचार्य से जब तक उसका ज्ञान नही किया जाता है तब तक उसका रहस्य अनावृत नही होता।

दो शब्दो के योग से इस शब्द की रचना हुई है–भक्त+अमर। इसमे भक्त और अमर शब्द के शाब्दिक और रूढ़िगत अर्थ तो आपने कई बार सुने या पढ़े होगे। परन्तु, परम आदरणीय साध्वी डॉ0 दिव्यप्रभाजी ने किसी विशेष अनुग्रह से इन शब्दो के पारिभाषिक एव पारमार्थिक अर्थ प्राप्त किये हैं।

भक्त याने जीव–आत्मा और अमर याने वे जिनकी कभी मृत्यु नही होती अर्थात् परमात्मा। भक्तामर शब्द की इस व्याख्या को इन्होने स्तोत्र मे यथास्थान व्याख्यायित कर हमें वास्तविकता से परिचित कराया है। इतिहास के अनुसार समय, स्थान और स्थिति के कारण अर्थों की परिभाषाये बदलती रही हैं। ऐसे ही कुछ कारण थे जो भक्तामर स्तोत्र की मौलिक अर्थ विवेचना परिस्थिति के प्रभाव मे परिवर्तित होती रही। देश और काल के प्रभाव में शब्दार्थों ने करवट बदली और हम जैन पारिभाषिक शब्दावलि से कई गुना दूर निकल गये।

जैसे सामान्यत· सुरगुरु शब्द का वृहस्पति अर्थ जैन परपरा को कैसे मान्य हो सकता है? देवताओ के प्रकारो मे इनका कहाँ स्थान है? कल्पात शब्द का युगान्त या काल-परिवर्तन अर्थ जैन अर्थ-परपरा के मापदड में कैसे सही माना जाएगा? ऐसे कई शब्द हैं जो मात्र वैदिक परपरा की मान्यताओ की पुष्टि का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। साध्वी डॉ0 दिव्यप्रभाजी अपने प्रवचनों मे इन शब्दो के जैन परपरागत मौलिक अर्थ प्रस्तुत कर एक रूढ़िगत मान्यता का वास्तविक निराकरण प्रस्तुत करती है। वृत्ति या व्याख्या के अनुसार इनकी पुष्टि न भी हो, परन्तु आगम से ये अर्थ अछूते नही हैं। इस प्रकार इन प्रवचनो से समाज को पुरातन के साथ नूतन दिशा का आलोक मिलने की सभावना है। वर्तमान समाज की जैन परिभाषा की जिज्ञासा को इससे काफी पुष्टि मिलती है।

समाज की जिज्ञासा को देखते हुए और श्रीमान् उमरावमल जी सा चोरड़िया के विशेष आग्रह से मुझे इसके सम्पादन का कार्यभार सौपा गया।

यद्यपि भक्तामर जैसे महान स्तोत्र पर दिये गये प्रवचनो का सम्पादन मेरी जैसी अल्पज्ञा साध्वी के लिये विकट अवश्य था, परन्तु परम गुरुवर्या साध्वी रत्न डॉ0 मुक्तिप्रभाजी म0 सा0 की पावन प्रेरणा भरे आशीर्वाद से यह कार्य सहज हो गया। इस प्रकार इस ग्रन्थ की जन्मभूमि जयपुर है।

ऐसे तो इस स्तोत्र के साथ एक इतिहास ही जुड़ा हुआ है। अनभिव्यक्त ऐसी एक वास्तविकता से आज आपको अनुभूत कराने को मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ। आप यह तो जानते हैं कि साध्वी दर्शनप्रभाजी और साध्वी डॉ0 दिव्यप्रभाजी की मैं अनुजा हूँ। इनके प्रगतिमान कदम मेरे जीवन के प्रेरणास्रोत बने हुए हैं। साध्वी डॉ0 दिव्यप्रभाजी बचपन से ही भक्त हृदया के साथ वैराग्यवासित भी रही हैं। इनके जन्म के समय में पिताश्री चीमनभाई को इनके दीक्षा लेने का भी संकेत मिल चुका था।

अब देखिये, भक्तामर स्तोत्र का इनके जीवन के साथ कैसे सम्बन्ध हुआ। बाल्यकाल से ही स्तोत्र की प्रेरणा कैसे मिलती रही। दादाजी के यह कहने पर कि जो भी पहले भक्तामर कण्ठाग्र करेगा उसे चाँदी की डिब्बी और चाँदी की माला दी जाएगी। तब पूरे परिवार के करीब १०-१२ बच्चों में इन्होंने सर्वप्रथम मात्र ५ दिन में ही स्तोत्र याद कर लिया था। तब इनकी आयु ७ वर्ष करीब थी। जहाँ तक मुझे याद है, ये अस्खलित स्तोत्र पाठ करती थीं। मेरे ससारी पिताजी ही इनके भक्तामर स्तोत्र के प्रथम गुरु रहे हैं। ९ वर्ष की उम्र में इन्होंने अपने पिताजी से स्तोत्र के सामान्य अर्थ सीखे थे। उस समय से प्रतिदिन इसके सम्बन्ध में कई जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों को पूछती रहती थी, जिनका आज वे स्वय बहुत अच्छा समाधान देती हैं।

इसके बाद करीब ई0 सन् १९६९ में आपको महान विभूति आत्मार्थी पूज्य गुरुदेव मोहनऋषिजी म0 सा0, आगम रत्नाकर पूज्य विनयऋषिजी म0 सा0 और परम गुरुवर्या अनुग्रहपूर्णा साध्वी रत्न उज्ज्वलकुमारी जी म0 सा0 के सान्निध्य मे चातुर्मास का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर पर आत्मार्थी पूज्य गुरुदेव द्वारा स्तोत्र की साधना के अभ्यास की और परम गुरुवर्या द्वारा इसके वैज्ञानिक अनुसधान की प्रेरणा मिली। इन प्रेरणाओं में अपना पथ दर्शन करती हुई आप अपने अध्ययन क्षेत्र में आगे बढ़ी। ई0 सन् १९७५ में आपने 'अरिहत' का अनुसधान प्रारभ किया। लोगो की दृष्टि में जो महानिबध था, वह आपके जीवन का साधनामय अभ्युत्थान रहा। कई बार इस खोज में जब आपका काम अटकता था तब आपको अज्ञात प्रेरणा मिलती रहती थी। इससे मनोबल और श्रद्धाबल बराबर दृढ़ होते गये। ई0 सन् १९८० में बालकेश्वर में "अरिहत नी ओलखाण" विषय पर आपके बड़े मार्मिक १७ प्रवचन हुए थे। इसी वर्ष "दार्शनिक और वैज्ञानिक परिवेश मे "चत्तारि सरण पव्वज्जामि" के विषय से मागलिक पर भी आपके कुछ प्रेरणास्पद प्रवचन होते रहे। पाचोरा चातुर्मास के पूर्व हम पारोला नामक एक गाँव में थे। वहाँ एक बार आपको भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते समय गाथा ३६ का भाव-पूर्वक

स्मरण हो गया था। परमात्मा के चरण दर्शन से आप मे एक विशेष अनुभूति पैदा हुई। तब से आपके जीवन की दिशा प्रकट हुई। अनासक्त भाव, समरसता, आत्मदर्शन आदि गुण आप मे आविर्भूत हुए। यह सब देखते हुए परम गुरुवर्या पूज्य मुक्तिप्रभाजी म0 सा0 ने चातुर्मास काल मे आपको इसी स्तोत्र पर प्रवचन करने का आदेश दिया। आपने उस आदेश को जीवन की मगल अभ्यर्थना समझकर स्वीकार किया, जो आज एक प्रवचन माला की माला के रूप मे आपके जीवन का उपहार बनने जा रही है। स्तोत्रकार ने स्तोत्र को भी माला कहा है, यह उस माला की बनी प्रवचन माला है।

लीजिए गले से लगाइये, हृदय में उतारिये और भाग्यशाली बनिये।

—साध्वी अनुपमा

शुभाशंसा

जैन धर्म के चारो सम्प्रदायो द्वारा मान्य 'भक्तामर स्तोत्र' आचार्य मानतुग सूरि का एक अद्वितीय एव चमत्कृत स्तोत्र है।

भक्ति का महत्त्व तो भक्त-हृदय ही समझ सकता है। अपने इष्टदेव के समक्ष हृदय खोलकर रख देने वाले भक्त-कवियो की परपरा की सूची बहुत लम्बी है। आश्चर्य की वात तो यह है कि उन भक्त-कवियो के हृदयस्थ भाव जो स्तवन और स्तोत्र रूपी झरने बनकर बह निकले उसमे आज भी साधारण जन उसी तन्मयता से बहने लगते हैं।

आचार्य मानतुग सूरि के इस स्तोत्र से अनेक भक्त-जीवात्माओ के अध्यात्ममार्ग प्रशस्त हुए हैं। इसका एक-एक शब्द, वाक्य और श्लोक मनस्ताप को दूर करता है। इसका प्रत्येक पदविन्यास गूढ़ मत्र रहस्यो से युक्त है। सभी श्लोक भिन्न-भिन्न मनोरथो को पूर्ण करते हैं। जैन धर्म मे, विशेषतः मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे अनेक स्तोत्र हैं, पर श्री भक्तामर स्तोत्र के समकक्ष किसी को नही रखा जा सकता।

विदुषी डॉ. साध्वी श्रीमुक्तिप्रभाजी की प्रेरणा से डा. साध्वी श्री दिव्यप्रभाजी ने उनके जयपुर चातुर्मास मे इस महास्तोत्र को अपने प्रवचनो के द्वारा इसकी महिमा से जन-जन को लाभान्वित करने का स्तुत्य प्रयास किया था। यह और भी प्रसन्नता का विषय है कि अब वे प्रवचन ग्रन्थस्थ होकर स्तोत्र महिमा में और अभिवृद्धि करेंगे। प्रत्येक श्लोक का सूक्ष्म एवं सरल विवेचन प्रशसनीय है। निस्सदेह 'भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि' से भव्यात्माओ को दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी।

विजय इन्द्रदिन्नसूरि का धर्मलाभ (आचार्य विजय इन्द्रदिन्न सूरिजी महाराज)

१९-१०-९१

जयपुर

मंगल-संदेश

जैन शासन मे साध्वियो की गौरवशाली परपरा रही है। भगवान महावीर के समय में साध्वियो की सख्या छत्तीस हजार थी। वर्तमान मे लगभग ग्यारह हजार साध्विया साधना कर रही हैं। भौतिकता-प्रधान युग मे इतनी बड़ी सख्या मे साध्वियो द्वारा किया जा रहा आध्यात्मिक अनुष्ठान अपने आप मे एक उपलब्धि है। साधना के तीन अग हैं— दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन तीनो अगों की पुष्टि होने से ही आत्मोपलब्धि की दिशा मे गति सभव है।

वर्षों से मेरी आकाक्षा थी कि जैनशासन मे साध्वियो का कर्तृत्व उजागर हो। ज्ञान के क्षेत्र मे उनकी गति हो। जैन-साहित्य उनके अवदान से गरिमा-मण्डित हो। विगत दो-तीन दशको मे साध्वियो ने इस क्षेत्र में प्रस्थान किया है। उनकी गति भले ही मन्द हो, पर यह विकास का शुभ संकेत है।

डॉ साध्वी दिव्यप्रभाजी ने आचार्य मानतुग द्वारा रचित भक्तामर स्तोत्र को आधार बनाकर व्याख्यान दिए। भक्तामर स्तोत्र जैन-परपरा मे प्रसिद्ध तो है ही, इसके प्रति प्रगाढ़ आस्था है। श्रद्धा के साथ स्तोत्र का पाठ निश्चित रूप से श्रेयस्कर होता है। साध्वी द्वारा इस सदर्भ मे दिए गए व्याख्यान श्रद्धालुजनो की आस्था को पुष्ट आलम्बन देगे, ऐसा विश्वास है।

जैन विश्व भारती,
लाडनूं ३४१ ३०६ (राजस्थान)
१५ अक्टूबर १९९१

आचार्य तुलसी

भक्ति और शक्ति का समन्वित प्रभाव

भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक पद्य मे अरिहन्त आदिनाथ के प्रति आचार्य मानतुग की असीम आत्म श्रद्धा व्यक्त हो रही है। उनकी अमित आत्मशक्ति से स्फुरित प्रबल भावना द्वारा वेड़ियाँ तथा ताले टूटने का अद्‌भुत चमत्कार जन मानस को चकित कर रहा है।

महासती उज्ज्वल कुमारी जी की शिष्या साध्वी श्री दिव्य प्रभाजी द्वारा किये गए पद्यो के विस्तृत विवेचन मे अपूर्व हार्दिक श्रद्धा भक्ति एव दिव्य आत्म शक्ति प्रवाहित हो रही है।

चोरडिया जी द्वारा किये गए प्रकाशन से भक्तामर स्तोत्र के पठन-पाठन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा और इससे भावुक भव्यो की भव्य भावना भी प्रवृद्ध होगी।

अ. प्र. मुनि कन्हैयालाल "कमल"

आशीर्वचन

कृति सदा आकृति की प्रकृति है। प्रकृति आकृति की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति अनुभूति की प्रतिमूर्ति है। प्रतिमूर्ति सस्कृति बनकर प्रवृत्तिमय होकर स्तुति बन जाती है। तव हृदय से जो प्रकट होता है वह स्तोत्र बन जाता है। भक्तामर स्तोत्र एक ऐसा ही प्रकट स्तोत्र है। भक्तिप्रिया साध्वी दिव्या ने भक्तामर स्तोत्र की साधना करके अपनी मुक्त भावतरगों द्वारा परमात्मा के चरणो में सहज समर्पण किया है। यही कारण है कि उसे इसमे से परमार्थ प्राप्त हुआ है।

यह परमार्थ सृष्टि का वरदान बने इस हेतु मैंने उसके सवेदनशील भावो को प्रवचन का रूप देने का आग्रह रखा। मेरे इस आग्रह को आदेश मानकर उसने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ये प्रवचन उसके परमात्म-प्रेम की वह अनुभूत धारणा है कि प्रवचन को सुनते समय अतर्दर्शन और परमात्मदर्शन का कोई अवसर अवश्य आ जाता है।

सच कहूँ तो ये प्रवचन ही नही, जीवन दर्पण है, इसमे अपने आप को निहार लो। ये तो पावन अमृत है, इसका मधुर पावन पान कर लो। यह हृदय की उर्मि का झरना है। यदि प्यासे हो तो पान कर लो या फिर चाहे स्नान कर लो।

उलझने सब मिट जाएगी एक अमिट की याद रहेगी।
नमन अरिहन्त को करलो तो ना कोई फरियाद रहेगी।
आचार्य मानतुग की युग-युग तक आवाज रहेगी।
दिव्या की परमार्थ भावना सदा-सदा आबाद रहेगी।

—साध्वी मुक्तिप्रभा

विषय - सूची

भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि

१. भक्तामर स्तोत्र का परिचय

भक्तामर स्तोत्र एक अपूर्व भक्तिस्तोत्र है। भक्ति एक त्रिमुखी प्रक्रिया है, जिसके तीन केन्द्रविन्दु हैं –१ भक्त २ परमात्मा और ३ भक्ति। भक्त आत्मा और परमात्मा के वीच सम्वन्ध जोड़नेवाला प्रशस्त भाव भक्ति है। परमात्मा जैसे भाव "स्व" मे प्रकट करना परमार्थ भक्ति है।

स्तोत्र मे शव्द के द्वारा सवध को जोड़ा जाता है। सम्वन्ध के द्वारा "स्व" और "स्वीय" को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार शव्द-दर्शन के द्वारा सवध-दर्शन और सवध-दर्शन के द्वारा स्वरूप-दर्शन की शृखला (Process Theory) बनती है।

भक्ति का मार्ग सिखाया नही जाता, उत्पन्न होता है। भक्ति से आनन्द की उत्पत्ति होती हे ओर आनन्द से कर्म की निवृत्ति होती है। अत भक्ति के द्वारा स्वतन्त्र सत्ता से अभेद होने पर "स्व-चेतना" का विकास होता हे। इस प्रकार भक्ति की यह एक सरल व्याख्या है कि **"जो सहज है, परम है, उसका अनुभव करना भक्ति हे।"**

क्रिया और भक्ति मे वहुत वड़ा अन्तर है। क्रिया फल से वाध देती है और भक्ति परम-स्वरूप से मिला देती हे। इस प्रकार भक्ति परम-मिलन का महामन्त्र है। रागद्वेष से मुक्त कर वीतरागी वनानेवाला परम मन्त्र है। परमात्मा की सर्वोच्च भावनाओ की स्वीकृति का महातत्र है ओर "स्व" को "स्व" में विलीन करने वाला योजनामय यत्र है।

इस प्रकार भक्ति परमात्मा के प्रति प्रेम का अखण्ड स्रोत हे। लेकिन यहा कोरा भावनात्मक प्रेम (Sentimental attachment) सफल नही हो सकता है, यहॉ तो चाहिए वैज्ञानिक प्रेम (Scientific attachment)।

अव हम देखेगे–भक्ति भावो से ओत-प्रोत अपूर्व भक्तामर स्तोत्र का महत्व, विशिष्टता, सम्वन्ध, परिभाषा और सफलता।

ऐसे देखा जाए तो "भक्तामर स्तोत्र" शव्द स्वय ही परिचय का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उसका परिचय करने की अपेक्षा उससे परिचित हो जाना ही जीवन का साधनामय प्रथम एव अंतिम अध्याय हे।

"भक्तामर" यह कितना प्रिय शव्द है। हमारे साथ कई वार सासारिक रिश्तो, सवधो के शव्द–नाम जुड़ते आये हैं, पर कभी हमारे साथ परमात्म शव्द सयुक्त हुआ देखा क्या?

"भक्तामर" यह एक ऐसा शब्द है जिसमे हम परमात्मा के साथ हैं या ऐसा कहें कि परमात्मा हमारे साथ है।

भक्त याने भक्त–आत्मा। "अमर" शब्द का अर्थ देव होता है और दूसरा अर्थ होता है मोक्ष, तीसरा अर्थ होता है जो अमर स्थान को प्राप्त कर चुके, वे परमात्मा–सिद्ध।

कुमार थावच्चा की जिज्ञासा "अमर" शब्द को अधिक स्पष्ट करती है।

पड़ौस मे सुबह जन्मे बच्चे का जन्म महोत्सव सुनकर थावच्चा कुमार अपनी माता से प्रश्न पूछता है–क्या मेरे जन्म के अवसर पर भी इसी प्रकार महोत्सव मनाया गया था? माता के द्वारा अपने जन्मोत्सव पर त्रिखडाधिपति कृष्ण के आने की और इससे भी बढ़कर सम्पूर्ण द्वारिका मे जन्मोत्सव मनाने की बाते सुनकर उन्ही विचारो मे दिन व्यतीत करने वाला थावच्चा ढलती शाम मे कुछ और ही दृश्य देख रहा है और वह था सुबह जन्मे उस बच्चे की मृत्यु का। इस दृश्य ने कई नये प्रश्न उभारे।

मॉ ! क्रन्दन क्यो ?

बेटा ! मृत्यु के कारण।

मॉ ! मृत्यु क्या है ?

बेटा ! सयोग का वियोग मे परिवर्तन।

मॉ ! लेकिन यह क्यो ?

वत्स ! यह तो निसर्ग का नियम है, सनातन सत्य है। जिसका जन्म उसकी मृत्यु अवश्य है।

हजारो वर्ष पहले की एक माता अपने प्यारे पुत्र को इन प्रश्नो का उत्तर देती हुई अध्यात्म गर्भित पूरा दर्शनशास्त्र पढ़ा रही है।

थावच्चा ने कहा–लेकिन माँ ! जन्मोत्सव तो अच्छा लगता है। परन्तु यह मृत्युजनित रुदन कितना दु खमय है तो क्या मै भी मरूगा और यदि मै मरा तो क्या आप सब ऐसे ही रोओगे ? मा इसका कोई उत्तर न दे पाई।

उत्सुक थावच्चा कुमार परमात्मा नेमिनाथ के समवसरण मे गये वहाँ जाकर कहते हैं–'परमात्मा ! क्या ऐसा कोई उपाय है कि मृत्यु न हो ?'

परमात्मा ने कहा–"हा है, यदि जन्म न हो।"

चरम शरीरी ने पुन पूछा–"भन्ते ! यह अवस्था कैसे सम्पादित की जाती है ?"

"वत्स ! नये कर्मबन्ध को रोक कर और पुराने कर्म बन्धन से मुक्त होकर।"

"भगवान् ! यह अवस्था कैसी होती है ?"

देवानुप्रिय ! सर्व कर्म-रहित "अमर" अवस्था है यह।

"अमर" याने वह स्थान जहॉ जाने पर मृत्यु नही होती अथवा "अमर" याने वह जो अब कभी भी मरनेवाला नही है, क्योकि मरता वह है जिसका जन्म होता है। जो

देह-पर्याय से ही सर्वथा रहित हे उनका तो जन्म क्या और मृत्यु क्या ? ऐसे परमात्म भाव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर जो कृतकृत्य हो गये, उनके साथ जुडकर वैसा हो जाना कितना दुरूह है। "भक्तामर स्तोत्र" ऐसी परम सहजावस्था तक पहुँचाने का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेकर सफल रहा है।

भक्त अर्थात् जीव-आत्मा नवतत्त्वो मे प्रथम तत्त्व। "अमर" याने मोक्ष नवतत्त्वो मे अन्तिम तत्त्व। प्रथम तत्त्व की समापत्ति अन्तिम तत्त्व मे है। आत्मा सहज मुक्तावस्था मे परमात्मा हो जाता हे या परमात्मा कहलाता है।

अत भक्तामर याने आत्मा–परमात्मा का मिलन, आत्मा-परमात्मा का दर्शन, आत्मा-परमात्मा का चिन्तन और अन्त मे परमात्मदशा प्राप्त करने की सर्वश्रेष्ठ सफल साधना है।

योगीराज आनदघन प्रभु ने "अमर" शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है–

अव हम अमर भये न मरेंगे।
जा कारण मिथ्यात दियो तज, क्यूँ कर देह धरेगे
अव हम
मर्यो अनत वार बिन समज्यो, अद सुख-दु ख विसरेंगे।
"आनन्दघन" प्रभु निपट अक्षर दो, नही समरे सो मरेंगे॥
अव हम

इन पक्तियो मे "अमर" शब्द की व्याख्या ओर अमर बनने के उपाय बताये हैं।

यह स्तोत्र "भक्तामर स्तोत्र" के नाम से पहचाना जाता है। इसका सफल कारण यही हे कि इसमे परमात्मा के अनुपम गुणो का और वीतरागभाव का अपूर्व वर्णन प्रस्तुत हे। इन गुणो को और वीतरागभाव को जो भी भक्त उत्कृष्ट भाव से अपने मे प्रकट करता है वह निश्चित रूप से अजर ओर अमर वनता है। कर्ममुक्त होता हे। भक्त को अमर बनाने का अपार सामर्थ्य इस स्तोत्र मे होने से इसे "भक्तामर स्तोत्र" नाम से अभिप्रेत किया गया है।

इस स्तोत्र के रचयिता मानतुगाचार्य हैं, यह स्तोत्र के अंतिम श्लोक से सिद्ध है। परन्तु, इसके रचना-कालादि के वारे मे मिलने वाले अभिप्राय अनुमानजन्य अधिक होने से अस्पष्ट रहे हैं। इतिहास के अनुसार आचार्य मानतुग अनेक हुए हैं। अत इस स्तोत्र के रचयिता मानतुग के वारे मे निर्णय लेना दुरूह हे। फिर भी अधिक जानकारियो के आधार पर घटनाभूमि धारा–अवन्तिका नगरी है। ११वी सदी के अतकाल मे भारत पर विदेशी आक्रमण आ जाने से हमारी कई महत्वपूर्ण कृतिया नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। अत आचार्य मानतुग के जन्म, दीक्षा, जीवन या देहविलय के वारे में आधारभूत विश्वसनीय जानकारी अप्राप्य रही है।

लोकमुख से प्रसिद्ध कथा ऐसी है कि एक बार मानतुगाचार्य धारा-नगरी मे पधारे। उस समय मन्त्री आदि उनके दर्शन को गये थे। राजसभा मे उनकी अनुपस्थिति ने राजा को उत्तेजित कर दिया। उन्होने आचार्य को राजसभा मे वुलाने का प्रयत्न किया परन्तु समाधिस्थ आचार्यश्री ने इस प्रस्ताव की उपेक्षा की। सेवक समाधिस्थ आचार्यश्री को उसी अवस्था मे उठाकर राजसभा मे लाते हैं। मौन खोलने का आग्रह करते हैं। आचार्य की निश्चलता को राजा ने अपना अपमान मानकर उन्हें लोहे की कील वध शृखलाओ मे जकड़कर कैदखाने मे कैद कर दिया।

देह के अनित्य और आत्मा के नित्य स्वरूप ज्ञान मे स्थित आचार्य पूरा दिन-रात १२ भावनाओ के चिन्तन मे व्यतीत करते हैं। आचार्य परमात्मभाव मे आगे बढ़ रहे थे ओर राजा बेचैनी मे आगे बढ़ रहा था। प्रभात का वह प्रथम प्रहर था। जब आचार्य श्री की चितन धारा मे उत्कृष्ट श्रद्धा भाव युक्त भक्तिभाव उत्पन्न हुआ।

विवाद किसी भी विषय का रहा हो परन्तु सभी सप्रदायो का सर्वमान्य प्रतिपादन यही है कि वह समय द्वन्द्व का था और आचार्यश्री की निश्चलता को तोडने का वह प्रयास था। परन्तु मुनि तो मुनि ही थे। उनके मन मे यह ससार तो परमाणुओ की रूपान्तर कथा मात्र हैं, जिनको देखकर परमार्थ की याद आ जाय वही तो मुनि है। स्नेह और सौजन्य की जीवन्त प्रतिमा है। उनके मन मे न कोई भेद है, न कोई खेद है। पृथ्वी पर रहते हुए परम मे विचरते हैं। अवनि मे रहते हुए अविनाशी मे एकतार रहते हैं। यद्यपि महापुरुषो के जीवन का मूल्याकन उनके देहसामर्थ्य, द्रव्य भण्डार या राज्यसत्ता के बहिरग साधनो द्वारा कभी नही आका जाता। उनकी पहचान तो उनके विपुल आत्म-समृद्धि के अतरग साधनो से ही होती है।

ऐसे श्री मानतुगाचार्य ने राजा द्वारा डलवाई लोहे की बेडियो के बन्धन मे बन्धन-भेद की कला सिद्ध की और परमात्मा मे एकरूप हुए। इस एकाग्रता मे अभेद से नाद प्रकट हुआ, नाद से अश्राव्यध्वनि उद्‌भूत हुई और उन विशिष्ट ध्वनि तरगो से उत्पन्न स्तोत्र से लोहे की बेड़ियो के बन्धन टूटे। एक-एक श्लोक का सर्जन होता गया और एक-एक बेड़ी टूटती गई।

हमे विचार आ सकते हैं कि आचार्य के श्लोक सर्जन से लोहे की बेडियॉ कैसे टूट सकती हैं ? क्या शब्दो से लोहे की बेडियॉ कभी टूट सकती हैं ?

इस प्रश्न का सनसनाता उत्तर आज का विज्ञान देता है कि हमारी आवाज १८ हजार सायकल पर जाती है तब अश्राव्य हो जाती है। जैसे अश्राव्य ध्वनि को उत्पन्न कराने वाले (Ultra Sonic drill) से सैकड के हजारवे भाग में अतिघन माना जाने वाला पदार्थ (हीरा) टूट जाता है। यदि अश्राव्यध्वनि से हीरा टूट सकता है तो अश्राव्य शब्द शक्ति से लोहे की बेडी क्यों नही टूट सकती ? (Ultra Sound technology) का यह सिद्धान्त विज्ञान के क्षेत्र मे आशीर्वाद रूप बन गया है।

अश्र'व्यध्वनि के एक करोड़ वीस लाख कपन द्वारा खोपड़ी को खोले बिना, खून की एक वूँद गिराये बिना, दिमाग का Operation होता है। पानी और साबुन के बिना कपड़े धोये जाते हैं। बिना Refngerator के दूध और फल ताजे रखे जाते हैं। Washington Times के समाचार के अनुसार अमेरिका की Pensylvania University Hospital के एक Professor Dr Johan Dely और अन्य कुछ तबीबिओ ने इस पर अनुसधान शुरू किया है। उन्होने ऐसा सिद्ध किया है कि पारपरिक छुरी की अपेक्षा Ultra Sonic छुरी से Operation सरल रहता है। यह छुरी और कुछ नही परन्तु इसमे ध्वनि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म लहरो को एक निश्चित प्रवाह मे तरगित करते हैं। रोगी के यकृत मे जिस स्थल पर खराव गाठ होती है उसके आस पास Ultra Sound को चलाने से अच्छे कोशो को नुकसान पहुँचाये विना शल्य क्रिया हो सकती है। सामान्यत उपयोग मे ली जानेवाली छुरी का स्पर्श भी यहॉ नही होता है। डॉ जहोन के अनुसार २५ हजार डालर की कीमत वाले यत्र के विकास से यकृत की शल्यक्रिया निर्विघ्न और सरक्षात्मक हो गई है।

दूसरे विश्वयुद्ध मे वोम्वर विमान वनाने वाले जर्मन निष्णातो ने देखा कि किसी विशेष कारण से विमान के तलभाग का जल्दी से नाश होता है। अनेक खोजो के बाद पता चला कि वोम्व फेककर विमान दूर चला जाता है, फिर भी विस्फोट से आवाज की शक्ति सपन्न लहरें विमान के साथ टकराने से उसे नुकसान पहुँचता है।

रोगी को विना वेहोश किए Lithotnpter भी शक्तिसपन्न ध्वनि सकेतो द्वारा पथरी (Stone) तोड़ने का काम करती है। रोगी को सीधा सुलाकर उसके कमर के नीचे रखी Highdrolic Tank मे गुर्दे (Kidney) पर सीधा प्रहार होता है। इसमे रोगी को न तो कोई पीड़ा होती है न किरणोत्सर्ग का कोई भय रहता है। इतना ही नही Stone तोड़ने की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया Lithotnpter Monitonng Unity मे Screen पर देख सकते हैं।

अत वैज्ञानिक दृष्टि से यह मान सकते हैं कि आचार्यश्री के ऐसे अपूर्व सर्जन से उनके लोहे की वेड़ियो के वधन टूट गये थे। परमात्मा के साथ भक्तिपूर्ण एकलीनता में उनका निजात्म स्वरूप प्रकट हुआ था। फलत लोहे की वेड़ियो के साथ परमार्थ को अवरुद्ध करने वाली उनके कर्मों की शृखलाये भी टूट रही थीं।

ऐसा सब कुछ मान लेने पर भी एक प्रश्न होता है कि इन सवल कारणों से यह स्तोत्र श्रेष्ठ अवश्य है फिर भी इस श्रेष्ठता ने हममे क्या परिवर्तन किया ? लोहे की क्या, सूत के धागे का भी टूटने की जहा शक्यता नही है वहॉ दर्शन-मोहनीय को तोड़कर परमार्थ की रहस्यात्मक अभेद धरा पर पहुँचने की तो आशा भी कैसे की जाय ? सर्जन किया मुनि ने, सुना परमात्मा ने, लोहे की वेड़िया टूटी मानतुगाचार्य की, हमे इस स्तोत्र से क्या लाभ ? आचार्यश्री ने इस स्तोत्र से हमे क्या दिया ?

इन प्रश्नो पर जब मै सोचती हूँ तब निसर्ग की नि सीमता मे इस स्तोत्र का नामकरण मुझे एक चिर, स्थायी और सतुलित समाधान प्रस्तुत करता है कि यहॉ किसी की

Monopoly नही है। सब का समानाधिकार है। "Pay the Price" मूल्य चुकाओ, चीज तुम्हारी ही है। "भक्त" और "अमर" ये दो अद्‌भुत शब्द रखकर आचार्यश्री ने सम्पूर्ण जैन दर्शन का तारतम्य प्रस्तुत कर दिया है। आगे "सम्यक् प्रणम्य" शब्द रखकर स्तवन और नमन का सामजस्य प्रस्तुत कर स्तोत्र की सफलता का उपाय बताया है। प्रथम नमस्कार कर फिर स्तवन करूँगा। जहॉ नमन होता है वहॉ स्तवन अपने आप ही हो जाता है। बिना नमन का स्तवन अधूरा है। हम स्तवन करते हैं परन्तु नमन नही करते हैं।

नमन द्वारा परमात्मा को दिए गए सम्मान के दान से एक बहुत बडा प्रतिदान मिलता है। यह प्रतिदान याने शाश्वत आत्मा का ज्ञान होता है। स्व-स्वरूप का अनादिकाल से रहा विस्मरण ही अनत दु:ख का मूल है, और उसका स्मरण अनत सुख का बीज है। अत नमन का फल अक्षय है। नमन आत्म-निवेदन रूप भक्ति का एक प्रकार है। नमन द्वारा भक्त का परमात्मा के साथ तात्विक सबध स्थापित होता है। भाव और भक्ति से ढली हुई पलको वाला झुका हुआ मस्तक नमन है और सर्व समर्पण का अतिम दाव स्तवन है। इसीलिए आनदघन महायोगी कहते हैं—"**कपट रहित थई आतम अरपणा**" । कपट छोड़ दो, घमड छोड़ दो, दभ और पाखड भी छोड़ दो। जैसे हो वैसे यथावत् परमात्मा के सन्मुख प्रस्तुत हो जाओ, अर्पित हो जाओ। उनके चरण पकड़ लो। उन्हें कह दो—तेरे सिवा मेरा कोई नही है।

यह है—कपट रहित आतम अरपणा। यही है सच्चा स्तवन। ऐसे स्तवन से बेड़ियॉ टूटती हैं, अनादि काल का "स्व" को आवरण करने वाला मिथ्यादर्शन टूटता है, जनम-जनम के पाप टूटते हैं और वीर्य प्रकट होता है। प्रगटे हुए वीर्य से समस्त विषय-कषायो का नाश होता है। वीर्योल्लास और परिणाम का अभिषेक करने की अमाप क्षमता भक्तामर स्तोत्र मे है। ऐसे सत्व सम्पन्न परिणाम मे सबके श्रेय का स्वाभाविक नाद सुनाई देता है। ऐसा अश्राव्यकोटि का नाद समग्र चित्ततत्र की कार्यक्षमता मे अपूर्वता प्रकट करता है।

अत जिन्होने स्थलकाल के बाह्य स्वरूप की मर्यादाओ का त्याग कर दिया, उन्हें पुन स्थल और काल के लोह पिजर मे पूरने का निरर्थक प्रयास नही करना चाहिए, क्योकि जो ससार की भव-प्रपचमूलक मर्यादाओ को पार कर गये, वे सीमाहीन बन गये। सीमाएँ जब नि सीम तत्वो मे खो जाती हैं, वहाँ हद का विसर्जन होता है। जहॉ हद का विसर्जन होता है वहाँ असीम का सर्जन होता है। जहॉ-जहॉ और जब-जब ऐसा होगा, वहॉ-वहॉ और तब-तब मानतुगाचार्य का जन्म होगा और वहॉ-वहॉ भक्तामर स्तोत्र का सर्जन होगा और वहॉ लोहे की बेड़ियॉ टूटेंगी।

इस प्रकार भक्तामर स्तोत्र भक्ति के प्रत्येक क्षण मे प्रत्येक भक्त को सदा सर्वदा स्वतत्र मूल्याकन देता है। चाहे वह कोई भी स्थल हो, चाहे वह कोई भी काल हो।

यह बात निश्चित है कि भक्तामर स्तोत्र का परमार्थ अत्यन्त भेदपूर्ण, सर्वथा गुप्त और अव्यक्त है। इसके परम को प्रगट करना परमार्थ है। परमार्थ मिलने पर इसके चितन,

मनन और ध्यान करने वालो को यह स्तोत्र अष्ट ऋद्धि, नव निधि, अनेक सिद्धि और अन्त मे अनत अव्यावाध आत्मिक सुख को देने वाला है। इसका गूढ़ार्थ इतना उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ है कि यह अज्ञानी की समझ मे ही नही आ सकता है। इस काव्य में अनेक मत्र हैं। इसका प्रत्येक चरण, पद और अक्षर चमत्कारी है।

वसततिलका छद का इसमे प्रयोग है। छद याने आल्हाद, आनदजनक लय। इसके प्रत्येक श्लोक मे चार पंक्तियॉ हैं। प्रत्येक पंक्ति में पहला, दूसरा, चौथा, आठवा, ग्यारहवा, तेरहवा और चौदहवा ये सात अक्षर गुरु हैं। तीसरा, पाँचवॉ, छठा, सातवा, नववा, दशवा और वारहवा ये सात अक्षर लघु हैं। इस प्रकार प्रत्येक पंक्ति में कुल १४ अक्षर हैं जो चौदह गुणस्थानक या चौदह पूर्व के स्मृति-प्रतीक हैं। इस व्यवस्था में लघु अक्षर के वाद सयुक्ताक्षर, हो या उसके साथ अनुस्वार या विसर्ग जुड़े हो अथवा वहाँ पंक्ति की पूर्णता होती हो वहाँ वह लघु अक्षर भी गुरु माना जाता है।

स्तोत्र वह हे जिसमे स्तव और स्तुति दोनों हो। एक तो परमात्मा के गुणो का स्तवन करना और उनका स्तवन करते हुए स्वयं के अवगुणों को परमात्मा के सामने प्रकट कर परमात्मा के गुणों को आत्मसात् करना स्तुति है। "उत्तराध्ययन" के २९वें अध्याय में कहा है –

"थवथुइमगलेण भन्ते ! जीवे कि जणयइ?

थवथुइमंगलेणं नाण-दंसण-चरित्तवोहिलाभं जणयइ।

नाण-दसण-चरित्त-वोहिलाभ सपन्ने य णं जीवे अन्तकिरिय कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ।

स्तवन और स्तुतिरूप मगल से ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप वोधिलाभ की प्राप्ति होती है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप वोधिलाभ से सपन्न जीव ससार का अत कर निर्वाण प्राप्त करता है, या कल्प विमान मे आराधना करने वाला होता है।

इस स्तोत्र मे श्लोक १ और २ लक्ष्य को निश्चय से प्राप्त करने का ध्येय प्रकट कर जीवन की महान् साधना का रहस्य प्रस्तुत करते हैं।

तीसरे श्लोक मे परमात्मा के सन्मुख होने पर साधक के लिए अनिवार्य स्व-पहचान का ध्येय प्रस्तुत हे।

४ से ७ तक के श्लोको मे साधक को परमात्मा से अपना सम्वन्ध स्थापित करने की सफल कला दर्शायी है।

श्लोक ८ मे सवध स्थापित होने के वाद की साधक की स्थिति का वर्णन है।

श्लोक ९ को जिनेश्वर की आराधना से समस्त दुरितों को दूर करने के सामर्थ्यवाला वताया है।

श्लोक १0 से ३७ तक मे परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण अर्थात् परमात्मा सामने ही हो, ऐसा परमभाव प्रस्तुत है।

श्लोक ३८ से ४७ तक मे विविध भय, जो जीव की आन्तरिक कषायो के प्रतीक हैं, उनके निवारण के उपाय प्रस्तुत किये हैं।

श्लोक ४८ मे स्तोत्र करने का फलितार्थ अतिम ध्येय (मोक्ष) लक्ष्मी की प्राप्ति वताया है।

आज हम स्तोत्र से परिचित हुए हैं। स्तोत्र का ध्येय परमात्मा का परिचय देना और हमारा अपना परिचय प्रकट करना है। अत हम अव परमात्मा का परिचय करने का प्रयत्न करेंगे।

■

२. परमात्मा का परिचय

आज दूसरे प्रवचन के माध्यम से हम परिचय के द्वितीय परिच्छेद को अनावृत करेंगे। अत आज के प्रवचन का विषय है "परमात्मा का परिचय"।

यद्यपि परमात्मा का परिचय हमारा अपना परिचय है फिर भी यह इतना गहरा है, जिसके विना सारी साधना अधूरी है। कितने ही जन्म वीते हम अनेक परिचयो से जुडते गये, अनेक परिचयो से टूटते गये, लेकिन हम कभी नही मिला पाये, एक शाश्वत नित्य और स्थायी परमात्म परिचय को, कभी नही जुटा पाये परमात्म-सवध को।

जो सम्पूर्ण इन्द्रियातीत हैं, सम्पूर्ण देहातीत हैं, समस्त वाह्य पर्यायों से जिनका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है, उन्हें हमारी वुद्धि, शब्द या इन्द्रियो के विषय बनाकर परिचय पाना अत्यन्त दुरूह है इसीलिए आचाराग सूत्र मे कहा है–

"सव्वे सरा णियट्टति। तक्का तत्थ ण विज्जई। मई तत्थ ण गाहिया।
ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे।
से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तसे, ण चउरंसे, ण परिमडले।
ण किण्हे, न णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले।
ण सुब्भिगधे, ण दुरभिगन्धे।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अविले, ण महुरे।
ण कक्कडे, ण मउए, ण गुरुए, ण लहुए,
ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे।
ण काउ, ण रूहे, ण संगे।
ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा परिण्णे सण्णे।
उवमा ण विज्जए। अरूवी सत्ता।"

–आचा श्रु १, अ ५, उद्दे ६, सु ५९२-५९४

(परम-आत्म-स्वरूप का वर्णन करने मे) सव शब्द लौट आते हैं, (जिनको जानने मे कोई तर्क सफल) नही होता है। वुद्धि द्वारा भी अग्राह्य है।

(वह अत्यन्त) आभा-(मय) होता है, वह अप्रतिष्ठान (मोक्ष) मय है, उसकी (केवल) (ज्ञाता) (द्रष्टा) अवस्था होती है।

(परम-आत्मा) न वड़ा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डल है।

न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न सफेद है।

(वह) न सुगन्धमय है, न दुर्गन्धमय है।

(वह) न तीखा है, न कडुवा है, न कषैला है, न खट्टा है, न मीठा है।

(वह) न कठोर है, न कोमल है, न भारी है, न हलका है, न ठण्डा है, न गर्म है, न चिकना है, न रूखा है।

(वह) न लेश्यावान है, न उत्पन्न होनेवाला है, उसको किसी मे आसक्ति नही है।

(वह) न स्त्री है, न पुरुष है और न इसके अतिरिक्त (नपुसक) है।

(वह) ज्ञाता है, सँज्ञा है–(सर्वत चैतन्यमय है।)

(उसके लिए कोई) तुलना नही है, (वह) एक अमूर्तिक सत्ता है।

अत परमात्मा को पहचानने के लिए, पाने के लिए हमे अपनी देहातीत, इन्द्रियातीत अवस्था तक पहुँचना होगा।

प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि स्तोत्र मे "स्तवन" और "स्तुति" दोनो होते हैं। "भक्तामर स्तोत्र" इस व्याख्या को सिद्ध करने मे बहुत अधिक सफल रहा है। प्रथम दो श्लोको मे परमात्मा का परिचय है। तीसरे श्लोक मे भक्त स्वय का परिचय देता है। और आगे दोनो के परिचयो की भेद-रेखा का पूर्ण विराम है। अभेद की प्रयोगशाला मे प्रवेश है।

इस प्रकार मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्तमान, परम वीतराग परमात्मा के आश्रयवान् और हम सर्व की स्वरूप प्राप्ति मे परम प्रेरणा रूप मानतुगाचार्य के हृदय मे प्रभात के प्रथम प्रहर मे पधारे, परम स्वरूप को प्राप्त, परम परित्राता परमात्मा। बधन की वेदना विस्मृति मे खो गई। स्मृतिलोक मे पधारे आदीश्वरनाथ। तात्विक सबध का प्रारभ हुआ। आत्मप्रदेशो मे निर्मलता आ गई। अनाहत नाद मे स्तोत्र का सर्जन हुआ। नाद अश्राव्यध्वनि मे उद्भूत होता गया। उद्भूतता भाषा मे प्रकट हुई–

भक्तामर-प्रणतमौलि-मणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पापतमो-वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुग युगादा-
वालम्बन भवजले पतता जनानाम् ॥१।

य· सस्तुतः सकलवाड्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय-चित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्रम् ॥२॥

परम तत्त्व के अनुसधान में तत्पर, किसने यह प्रथम प्रणाम किया या स्तुति ? इसका समाधान इस श्लोक का सरलार्थ करता है—

प्रथम जिनपादयुग सम्यक् प्रणम्य, अहं स्तोष्ये

प्रथम सम्यक् प्रणाम करके (फिर बाद में) मैं भी स्तुति करूँगा।

जिन चरणो में प्रथम नमस्कार करते है। वे चरण युगल कैसे है ? उन चरण-युगल का स्वरूप-परिचय, वर्णन, विशिष्टता, महत्त्व और परिणाम यहाँ प्रस्तुत है—

१ भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकम्-

भक्त देवो के प्रकृष्ट भाव से नमे हुए मुकुटों के मणियों की कान्ति के उद्योत (प्रकाश) को करने वाले,

२ दलितपापतमोवितानम्-

पापरूपी तमस् अर्थात् अन्धकार के विस्तार को, समूह को नष्ट करने वाले,

३ भवजले पतता जनानाम् आलम्बनम्-

ससार रूपी सागर के अर्थात् जल में पडे हुए—गिरते हुए मनुष्यों के आलबन रूप, आधारभूत।

जिन चरणों में नमस्कार कर रहे हैं और जिनकी हम स्तुति करने जा रहे हैं, वे कौन हैं ? कैसे हैं ?

सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्	-	समस्त शास्त्रों के तत्त्वज्ञान से
उद्भूतबुद्धिपटुभि	-	उत्पन्न हुई बुद्धि से चतुर— ऐसे
सुरलोकनाथ	-	देवेन्द्रो द्वारा
जगत्त्रितयचित्तहरै	-	तीनो जगत् के चित्त को हरण करने वाले— ऐसे
उदारै	-	उत्कृष्ट गभीर अर्थवाले
स्तोत्रै	-	स्तोत्रो—स्तवनों के द्वारा
य सस्तुत	-	जो सम्यक् स्तवन के पात्र हैं,
युगादौ	-	युग की आदि मे—
त	-	उन
प्रथम जिनेन्द्रम्	-	प्रथम तीर्थंकर की—
किल	-	निश्चय से
अहं अपि	-	मै भी
स्तोष्ये	-	स्तुति करूंगा

अव हम एक-एक शव्द का खोलकर उसे समझने का प्रयास करे–

१ **भक्त**–आत्मिक सम्यक् परिणति भक्ति कही जाती है। ऐसी भक्ति जिसके हृदय मे हो वह भक्त है। इसीलिए कहते हैं–

"भत्तिभर निब्भरेण हिअय"

२ **अमर**–इस शव्द के यहाँ चार अर्थ होते है–

१ जिसकी मृत्यु न हो वे अर्थात् परमात्मा। इनका सम्यक् स्मरण, आलवन ग्रहण, प्रणमन और उस पद की उपलब्धि।

२ जो इनके प्रति श्रद्धाभावो को प्रकट कर स्वय मे वीतरागभावो को उभारता है वह स्वय अमर ऐसे परम पद को प्राप्त होता है।

३ अमर–इसे यदि अवस्था का द्योतक माने तो यह निर्वाण या मोक्ष तत्व का प्रतीक है।

४ सामान्य मे यह देव पद का द्योतक है।

३ **प्रणतमौलि**–मौलि=मुकुट–जो मस्तक पर धारण किया जाता है। प्रणत याने प्रकर्ष भाव से झुका हुआ। साधक का मस्तक झुका हुआ है।

४ **मणिप्रभा**–यह हमारे नाभि मे स्थित मणिपूर चक्र का प्रतीक है। जिसे साधना मे वडा महत्वपूर्ण माना गया है।

५ **पादयुग**–पाद याने चरण और युग याने जुडा हुआ।

इस प्रकार इसमे मस्तक से लेकर चरण तक की एक गुप्त महासाधना का सकेत है। जिसके माध्यम से साधक अपनी ऊर्जा को प्रकट कर अनन्त कर्मों का क्षय कर सकता है। और उनके (कर्मों के) प्रभाव से प्रकट लोहे की वेडियो के वन्धन भी इस साधना से सहज टूट सकते हैं।

हमारी चेतना पैर से लेकर मस्तिष्क तक सवेदनशील है। इसी कारण डॉक्टर सवेदना का परीक्षण पैर मे पीन (pin) लगाकर करते हैं।

हम नमस्कार करेंगे तो कहॉ करेगे ? माथे पर क्या ? नही ! चरणो मे! चरणो मे क्यो करते हैं कभी आपने सोचा है क्या ? और झुकाया क्या जाता है ? मस्तक! हमारे हाथ और पैरो मे से विद्युत्कण (Electron) पैदा होते हैं। साधना के समय हम में से ऊर्जा पैदा होती है लेकिन दोनो पैरो को जमीन से सीधा स्पर्श कर रखते हैं तो सारी ऊर्जा धरती मे [illegible]पा जाती है। बिजली जब गिरती है तो जमीन मे समा जाती है। इसी प्रकार यह ऊर्जा भी [illegible] में समा जाती है। कायोत्सर्ग मुद्रा ऊर्जा को शरीर मे समा देने की विशेष मुद्रा है [illegible] इसका महत्व रहा है। पद्मासन मे बैठकर वाहिना हाथ नीचे दाहिना हाथ ऊपर रखकर गोलाई मे हथेलियो को जमाने से ऊर्जा अगुलियो और अगूठो के माध्यम से Flow होती है। मस्तक इस ऊर्जा को अपने मे Absorb करता है, सम्पादित करता है।

इसीलिए महापुरुषो के चरणो मे झुकने से उनकी देहपर्याय से निकलती विशिष्ट ऊर्जा को नमन करने वाला अपने मस्तक से इन्हें धारण करता है। आशीर्वाद भी हाथो से दिया जाता है क्योंकि ऊर्जा वहाँ से निकलती है। यह सारी आभा आशीर्वाद के द्वारा मस्तक मे प्रवाहित की जाती है।

सिर से पेर तक विस्तृत शरीर मे ६00 अरब कोशिकाएँ हैं। ७ हजार २00 शिराएँ, ७0 हजार माइल विस्तार मे व्याप्त हैं। सात चक्र हैं। आठ ग्रन्थिया हैं।

आचाराग सूत्र के श्रुतस्कन्ध१ अध्ययन १ के उद्देशक २ मे जीव की सवेदना के ३२ अग बताये हैं। इसका क्रम भी पैर से लेकर सिर तक दिया है। जेसे–१ पैर, २ टखने, ३ जघा, ४ घुटने, ५ उरू, ६ कटि, ७ नाभि, ८ उदर, ९ पार्श्व-पसाल, १0 पीठ, ११ छाती, १२ हृदय, १३ स्तन, १४ कन्धे, १५ भुजा, १६ हाथ, १७ अगुली, १८ नख, १९ ग्रीवा (गर्दन), २0 ठुड्डी, २१ होठ, २२ दाँत, २३ जीभ, २४ तालु, २५ गला, २६ कपोल, २७ कान, २८ नाक, २९ आँख, ३0 भोह, ३१ ललाट, ३२ शिर।

रक्षाकवच स्तोत्र जिन पजर मे सिर से पैर तक २४ मुख्य सवेदना-स्थानो मे २४ तीर्थकरो की प्रतिष्ठा कर ऊर्जा को तरगित और प्रवाहित करने की साधना दर्शायी है।

यही साधना परिक्रमा "मौलिमणिप्रभाणाम्–पादयुग" पद मे निहित है।

परमार्थ की दूसरी दृष्टि से देखने पर–

१ भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकम्–यह पद परमात्मा के अनत पूजातिशय का द्योतक है।

२ दलितपापतमोवितानम्–यह पद अपायापगमातिशय की ओर सकेत करता है।

३ भवजले पतता जनानाम् आलम्बनम्–यह पद ज्ञानातिशय का सूचक है। जीव तो अभी कर्मो से आवृत होने से अज्ञानी है अत परमात्मा के ज्ञान का आलबन ग्रहण करता है।

४ सकलवाङ्मय तत्त्वबोधात्–यह पद द्वादशागी का प्रतीक है। और द्वादशागी परमात्मा के त्रिपदीरूप वचनातिशय से प्रकट होती है।

इसका तीसरा परमार्थ है–"प्रणत" शब्द का अर्थ है प्रकर्षभाव मे नमस्कृत। तात्पर्य है यह नमस्कार महामन्त्र से गर्भित है।

१ "युगादा-प्रथम जिनेन्द्रम्"–यह पद शब्दो से परमात्मा ऋषभदेव की "अरिहत" पर्याय का स्वरूप प्रस्तुत करता है। अत "प्रणत" शब्द "नमो अरिहताण" मत्र से गर्भित है।

२ "वर्तमान मे य परमात्मा सिद्ध स्वरूप है" और "अमर" पद परमात्मा के निर्वाण कल्याण के बाद की स्थितिवाला है अत "प्रणत" शब्द "नमो सिद्धाण" मत्र का द्योतक है।

३ **अहं स्तोष्ये**–शब्द मे निहित "मै" स्तुति करने वाला के अभिवाचक आचार्य श्री मानतुग स्वय उस काल के इतिहास प्रसिद्ध आचार्य है। वर्तमान मे हम उनसे अभेद कर स्तोत्र चैतन्य जगाते हैं अत "**प्रणत**" शब्द मे "**नमो आयरियाण**" निहित है।

४-५ आचार्य मे उपाध्याय और साधु के सहज गुण निहित होते हैं अत इसी से "**नमो उवज्झायाण**" और "**नमो लोए सव्वसाहूण**" ये दो मत्र निहित हैं।

परमार्थ से चौथा रहस्य है–इसमे निहित नवतत्त्वात्मक विश्लेषण। भक्त जीव है प्रथम तत्त्व। उसका प्रतिपक्षी तत्त्व अजीव है। जब तक जीव अमर याने मोक्ष पद को नही प्राप्त करता है तब तक कर्म-पुद्गल-अजीव से सतत सबधित रहता है।

"**सम्यक् प्रणम्य**" शब्द पुण्य का द्योतक है, क्योकि पुण्य के नव प्रकारो मे सर्वश्रेष्ठ सर्वथा महत्त्वपूर्ण नमस्कार पुण्य है। "**दलित पापतमो वितानम्**" पद पापतत्व का द्योतक है।

जीवाजीव की पारस्परिक क्रीडा-रति से जीव मे अजीव का आस्रव होता है।

'**सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुग**"–पद जीव के इस भौतिक खेल को बद करने रूप सवर तत्त्व की ओर इगित करता है।

समस्त पापकर्मों को "दलित" करना अपने आप मे "निर्जरा तत्त्व" हैं।

जीव-अजीव का परस्पर सायोगिक सबध "बधतत्त्व" है।

"अमर" पद अतिम "मोक्षतत्त्व" का प्रतीक है।

पाचवे रहस्य मे इसमे परमार्थ से षड्द्रव्य निहित हैं।

१ **आलम्बन**–याने सहारा। जो गति मे सहायता प्रदान करे वह **धर्मास्तिकाय** है। परमात्मा के चरणो का आलम्बन हमारे मोक्षमार्ग की गति मे सहायता प्रदान करता है।

२. "**अहम् किल स्तोष्ये**"–यहाँ किल शब्द निश्चय का सूचक है। **अधर्मास्तिकाय** स्थिरता करने वाला है। आराधना मे नैश्चयिक स्थिरता लाने वाला स्तोत्र हमारी आध्यात्मिकता का अधर्मास्तिकाय है।

३ **आकाशास्तिकाय** याने (Space) देने वाला। अर्थात् विस्तार। यह **वितानम्** शब्द से परिलक्षित होता है।

४ पाप आदि पुद्गल होने से **पुद्गलास्तिकाय** है।

५ भक्त याने जीव। अजीव कभी भक्ति करता नही अत भक्त शब्द **जीवास्तिकाय** है।

६ "**युगादौ**" मे प्रयुक्त "युग" शब्द विशेष **काल** का सूचक है।

इस प्रकार ये दो श्लोक परमार्थ से षड्द्रव्यात्मक लोक स्वरूप होकर भी लोकाग्र का परम कारण स्वरूप हैं। "स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्र" का परमार्थ इस प्रकार है–

'तं' याने उन। किसी तीसरे पुरुष के लिए इस "त" का प्रयोग हुआ हे। ध्याता और ध्यान मे ध्येय निश्चित होने पर भी सामने अस्पष्ट है। "भक्तामर स्तोत्र" मे यही एक ऐसा स्थान है जहाँ परमात्मा परोक्ष म रहकर साधक का ध्येय रहा हे। आगे जाकर "त" का स्थान प्रत्यक्ष रूप विविध सबोधनो से परिलक्षित हो जाता है।

प्रथम शब्द सामान्यत से प्रथम आदीश्वरनाथ का द्योतक हे और विशेष से यह प्रणाम और स्तुति मे प्रणाम को प्राथमिकता देने के रूप मे भी अधिक अर्थ सगत होता है। नवकार मत्र की चूलिका मे नमस्कार को **"पढम हवइ मगलम्"** से प्रथम मगल कहा है। अर्थात् **'त जिनेन्द्र प्रथम सम्यक् प्रणम्य'**-उन जिनेन्द्र को प्रथम नमस्कार कर बाद मे **"किल"**-निश्चय से **"अहं स्तोष्ये"** स्तुति करूँगा।

स्तोत्र होने से इसमे स्तुति मुख्य हे फिर भी मुख्य से प्रथम का महत्त्व दर्शाना इस श्लोक का अभिप्राय रहा हे। जैसे विद्यार्थी का परीक्षा मे सफल होना मुख्य हे परन्तु इससे प्रथम पढ़ना अनिवार्य है। भोजन मुख्य है परन्तु प्रथम आटा, चूल्हा अनिवार्य हे। साधक के लिए मोक्ष मुख्य ह परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रथम कर्मक्षय आवश्यक हे। इस प्रकार परम-मिलन के लिए स्तोत्र मुख्य हे परन्तु प्रथम नमस्कार अनिवार्य है।

"जिनेन्द्र" शब्द से तीर्थंकर पद का सकेत हे। वैसे "जिन" या "तीर्थंकर" में विशेष अन्तर नही हे। ज्ञान की दृष्टि से एक समान हैं। अन्तर सिर्फ तीर्थंकर के विशेष तीर्थंकर नामकर्म का हे। इस कर्म के प्रभाव से इनके द्वारा कई जीव पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति मे सफल रहते हैं। अत यहाँ जिनो के (अनेक केवलियो के) स्वामी जिनेन्द्र ऐसा कहा गया है।

"किल" याने निश्चय से। साधना मे निश्चयात्मक परिबल का अत्यन्त महत्व हे। दृढ़ता से साधक परिस्थितियो से प्रभावित नही होता हे।

जब साधक किसी भी साधना का प्रारभ सकल्प के साथ करता है तो उसे सफलता निश्चित रूप से मिल सकती हे। "मै निश्चय से स्तुति करूँगा" ऐसा सकल्प करते ही आचार्यश्री के ध्यान मे परमात्मा पधारते हैं।

भक्त का मस्तक झुका हुआ ह, आँखे बन्द हैं, अन्तर्मन मे, समस्त आत्मचेतना मे, समस्त आत्मप्रदेशो मे परमात्मा का एक-रूप ध्यान है। परमात्मा ने भक्त के मस्तक पर हाथ रखा और कहा–

"वत्स ! मै स्तुति करूगा–ऐसा निश्चय करने वाला तू हे कौन ? तेरा परिचय दे।"

भक्त परमात्मा को क्या उत्तर देगा, कैसे परिचय देगा ? यह हम "भक्तामर स्तोत्र" के तीसरे श्लोक के माध्यम से देखेंगे। जो भी भक्त हैं वे सब परमात्मा के इस प्रश्न को स्वय के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे।

श्लोक - ३

३. आत्मा का परिचय

बदलती हुई परिस्थितियॉ, सासारिक घटनाएँ इतनी तीव्रता से, इतने वेग से आती-जाती हैं कि बीच मे रिक्तता की कोई स्थिति ही नही वन पाती है। ये परिस्थितियॉ या घटनाएँ कुछ अनुकूल होती हैं, कुछ प्रतिकूल होती हैं। राग-द्वेष के माध्यम से हम इनमे घुल-मिल जाते हैं।

इसे सोचने के लिए बल प्रदान करने वाला आध्यात्मिक जगत् इस पार्थिव जगत से बिलकुल भिन्न है। हा, फिर भी कही कोई ऐसा रेखातट है जहॉ ये दोनो स्पर्श-रेखाएँ एक दूसरी से मिलती हैं। डॉयलॉग करती हैं। ज्यामिति रेखागणित मे जिस तरह स्पर्शरेखा होती है ऐसी स्पर्शिता अध्यात्म के साथ हमारी होती है। ऐसे अवसर को जीवन मे Chance कहा जाता है, मौका कहा जाता है। यदि उस अवसर को हम हाथ से खोते हैं तो बहुत बडी उपलब्धि को अपने जीवन से खो देते हैं।

घटनाओ के माध्यम से हम देख रहे हैं कि एक ऐसे क्षेत्र मे मानतुगाचार्य का प्रवेश हुआ है जिस क्षेत्र मे सिर्फ मानतुगाचार्य का ही नही सम्पूर्ण जैन धर्म का विरोध चल रहा था। अवन्तिकानरेश के एक मन्त्री ने मानतुगाचार्य को आमन्त्रण दिया था कि आप मेरी नगरी मे पधार कर किसी न किसी प्रकार जैन धर्म, जैन शासन का कुछ न कुछ प्रभाव इस क्षेत्र मे पडे, ऐसा कुछ कीजिए। और विनती को मान्य करते हुए मानतुगाचार्य अवन्तिका नगरी मे पधारे। मैने आप से पहले ही कहा था कि प्रभात के प्रथम प्रहर मे उनका पदार्पण हुआ था। आते ही सत अपने नियमानुसार ईर्यापथिकी क्रिया मे लगते हैं। ईर्यापथिकी साधना मे तल्लीन आचार्यश्री को राजा किस कारण से बदी बनाते हैं, यह जानना बड़ा महत्वपूर्ण है।

राजा का यह मानना था कि जब मेरी सभा को मै सम्बोधित करूँ तो सभा के सभी मन्त्री मेरे सामने होने चाहिये। उस समय एक मन्त्री के वहॉ नही रहने से पूछताछ करने पर पता चला कि कोई जैन सन्त आ रहे हैं, उनकी अगवानी करने के लिये, उनका स्वागत करने के लिए वे वहॉ गये हैं। बस मात्र इतनी ही घटना से दूसरे मत्रियो ने राजा के कान भरे कि सन्त का सम्मान तो राज्य की ओर से होना चाहिए। लगता है, मन्त्री कुछ न कुछ राजनीति खेल रहे हैं। इस प्रकार के समाचार सुनकर महाराजा भोज गुरु को राजसभा मे बुलाते हैं पर सत वहॉ पधारते नही हैं। अपने नियमानुसार ईर्यापथिकी साधना मे लीन हैं और उनको उसी निश्चलता मे उठाकर कैदखाने मे बद कर दिया जाता है।

ऐर घटनाओ का हो जाना हमारे लिये कोई विशिष्ट वात नही हे। हालाकि भावावेश मे कभी-कभी लगता है कि सतो के ऊपर ऐसे उपसर्ग हमारे सवेदनशील मानस को उद्वेलित अवश्य कर देते हैं, परन्तु घटनाओ को घटनाओ के स्थान पर छोडकर हमे इसे समझना है।

"भक्तामर स्तोत्र" को अव हम द्विगुणित रीति से देखेगे। पार्थिव जगत की दृष्टि से घटनाएं कैसे-कैसे वर्तुल लाती हैं और कैसे मानतुगाचार्य घटनातीत होते जाते हैं। दूसरे धरातल पर आध्यात्मिक जगत मे जहाँ हम पहुँच जाते हैं तो परमात्मा से भेंट करते-करते अपने आध्यात्मिक विकास की ओर आचार्यश्री कैसे आगे वढ़ रहे हैं। दोनो चीजो को हमे एक साथ देखना है क्योंकि हम दोनो जगत में जीना चाहते हैं। पार्थिव जगत हमारे सामने है और आध्यात्मिक जगत की ओर हम आगे बढ़ना चाहते हैं। इन दोनो का सामजस्य स्थापित किये विना हम आध्यात्मिकता को अपने जीवन से नही जोड़ सकते हैं। केवल आध्यात्मिकता मे जीना भी हमारे लिये कठिन हे क्योंकि घटनाएँ सतत हमारे साथ घटित होती जाती हैं।

हम देख रहे हैं कि प्रभात के प्रथम प्रहर मे ध्यानस्थ आचार्यश्री को लोहे की वेड़ियो की शृखलाओ मे वाधकर, अवन्तिका के वाहर एक अँधेरी कोठरी रूप कारागृह मे रखा जाता है। वहाँ दो पहरेदार हैं। आचार्यश्री ने अपना ध्यान खोला नही। लक्ष्य मे जरूर आया कि एक उपसर्ग से मै वाधित हो रहा हूँ। तत्क्षण ही उन्होने अपने गुरु मत्र के माध्यम से परमात्मा के साथ एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया और उनका प्रयास सफल रहा। यह स्थिति हमारे सामने मौजूद है। आचार्यश्री ने वेड़ियो के वधन को विस्मृति मे खो दिया और स्वय अन्तर्ध्यान मे लीन हो गये। उनके स्मृति लोक मे पधारे आदीश्वर नाथ। वेडियो के वन्धन टूटते गये। उनके भीतर से एक नाद प्रकट हुआ। वह नाद इतना अद्भुत था कि वह अश्राव्य ध्वनि मे तरगित होकर प्रकट होता गया। उसकी प्रकटता "भक्तामर स्तोत्र" के माध्यम से हमारे सामने उपलब्ध है।

"तं प्रथम जिनेन्द्रं प्रणम्य किल अहम् अपि स्तोष्ये" अर्थात् "उन परमात्मा के चरणो मे प्रणाम करके मै निश्चय ही स्तुति करूँगा" स्तुति के पहले भक्त ऐसा दृढ़ सकल्प करता हुआ परमात्मा के चरणों के ध्यान मे लीन होता है। लीनता आने पर दीनता टूटती हे, भेद मिटता है। अभेद से आत्मप्रदेशो मे निर्मलता आती हे और परम आनदधाम परमात्मा ध्यानालोक मे पधारते हैं। "त" याने "वह" जो था अव प्रकट हो गया, सामने आ गया।

भक्त ने चरणो मे मस्तक रखा। परमात्मा ने झुकते मस्तक पर हाथ रखकर कहा–वत्स ! "मै स्तुति करूँगा" ऐसा कहने वाला तू कौन है ? तेरा परिचय दे।

भक्त झुझलाया। जीवन का यह प्रथम अवसर था कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी उससे परिचय मांग रहे हैं। उसने कहा–

परमात्मा! आपको क्या परिचय दूँ? ससार के किसी भी प्राणी को मेरा आडम्बर भरा यह परिचय मै आसानी से दे सकता हूँ परन्तु परमात्मा आप तो सर्वज्ञ हो। ससार

का कोई भी रहस्य आप से अप्रकट नही है। तीनो कालो की, तीनो लोको की सर्व जीवो की सभी पर्यायो के ज्ञाता हो। आपसे मेरा क्या छिपा है ? मेरे सभी पापो को आप जानते हो। आपको मै क्या अपना परिचय दूँ ? आज कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि मुझे पूछ ले कि तू कौन है तो मेरे पास बहुत सारा परिचय है, मै सेठ हूँ, फैक्ट्री का मालिक हूँ, डॉक्टर हूँ, वकील हूँ, बैरिस्टर हूँ, बहुत बडा व्यापारी हूँ। मेरे पास कई तरह के परिचय मौजूद हैं। परमात्मा ये तो आप माग रहे है, आप से क्या छिपा हुआ है मेरा ? इस जन्म की ही नही अपितु जन्म–जन्म की सारी करतूते आप जानते हैं। दुनिया का कोई पाप नही जो मैने छोडा हो। जगत् का कोई व्यक्ति नही जिसके साथ मैने सम्बन्ध नही किया हो। और, यह सब कुछ आप जानते हैं। कितना पुण्य किया, कितना पाप किया, कितनी निर्जरा की, कितना धर्म किया, कितना कर्म किया, कितने सम्बन्ध स्थापित किये, कितने सम्बन्ध बॉधे, कितने बिगाडे, कितने छोड़े, कितने तोडे, कितने खेल खेले। परमात्मा आपसे क्या छिपा है ? बताइये ना। छोड़ दीजिए प्लीज, मेरा परिचय मत मागिये। आपसे कुछ छिपाना भी चाहता नही और परिचय दूँगा तो वह मेरे लिए लज्जाजनक होगा। मै तो आपका परिचय पाकर मोक्ष पाना चाहता हूँ। यद्यपि मेरे लिए यह भी दुरूह हो रहा है।

परमात्मा ने कहा–वत्स ! तू मेरा परिचय दे सके या नही दे सके, तू मुझसे परिचित हो सके या नही हो सके, अब मुझे कोई चिन्ता नही। मेरे परिचय की तू चिन्ता मत कर, मै तेरे साथ हूँ, सदा साथ रहूँगा, लेकिन मुझे चिता है कि तू अपने आपको जानता है या नही ? तू अपना परिचय मुझे दे।

अब मानतुगाचार्य को भूल जाइये, और आप आगे बढ़िये, आप भक्त हो, आपको सम्पूर्ण अधिकार है। यह मत सोचिये कि सारी क्षमता मानतुगाचार्य मे ही निहित है। मै यह सोचती हूँ कि जितनी उनमे शक्ति थी, उतनी ही शक्ति हम मे निहित है, लेकिन हम उस शक्ति को उजागर नही कर पाये हैं। "भक्तामर स्तोत्र" का आलम्बन लेकर अपनी अन्तश्चेतना को आज हम जागृत करेंगे। जब तक "कोऽहम्" की आग प्रकट नही होगी, तब तक परमात्मा से तात्त्विक सम्बन्ध सभव नही है। मै कौन हूँ, मै कहाँ से आया हूँ और मै कैसी हूँ, यह सोचना अत्यन्त आवश्यक है।

अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी को हम अपना परिचय देगे। माध्यम आचार्यश्री का लेंगे। आचार्यश्री हम सब को साथ लेकर चलते हैं। अत आचार्यश्री का परिचय हम सबका परिचय हो जायेगा। भक्त कहता है–प्रभु ! बहुत ध्यान देकर सुनिये। यह है मेरा परिचय-

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित पादपीठ !
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्यः क इच्छति जन. सहसा ग्रहीतुम् ? ॥३॥

विवुधार्चितपादपीठ – विवुध का एक अर्थ देव है परन्तु विशेषार्थ है विशिष्ट वहुजन अर्चित पादपीठ याने पूजित चरणासन
वुद्ध्या विना अपि – वुद्धि विहीन होने पर भी,
विगतत्रप – लज्जा रहित
स्तोतु समुद्यतमति – स्तुति करने के लिए तत्पर हुई है वुद्धि जिसकी ऐसा
जलसस्थितम् – जल मे अच्छी तरह से पड़े हुए
इन्दुविम्वम् – चन्द्र के प्रतिविम्व को
वालं विहाय – वालक को छोड़कर
अन्य क जन – दूसरा कौन मनुष्य
सहसा – अचानक
ग्रहीतुम् – पकड़ने के लिए
इच्छति – इच्छा करता है, चाहता है।

जो सामने आता है वह सम्वोधित होता है। भक्त आज पहली वार परमात्मा से मिल रहा है। "विवुधार्चितपादपीठ" जिनका पाद-पीठ विवुधो से अर्चित है, पूजित है। पादपीठ का मतलव होता है–चरणासन। जिस पर पैर रखकर परमात्मा सिहासन पर आरूढ़ होते हैं उसको कहा जाता है पादपीठ। अर्चित का मतलब है पूजित। चरणासन पूजित इसलिये होता है कि नमन चरणो मे ही किया जाता है। क्योंकि चरणो से ही शुभ Vibration तरगित होते रहते हैं। इसीलिए परमात्मा के चरण सदैव पूजनीय होते हैं। चरण आसन पर रखे जाते हैं, अत चरणासन भी पूजित होता है। सर्व जीवो से अर्चित ऐसा न कहकर विवुधो से अर्चित ऐसा क्यो कहा? सामान्यत विवुध का अर्थ देव किया जाता है। परन्तु "भक्तामर स्तोत्र" के वास्तविक अर्थ मे विवुध का अर्थ देव नही होता है। विवुध का अर्थ होता है विशिष्ट वुधजन।

अव मै आपसे पूछती हूँ विवुध आप हैं या नही? आप अपने को क्या मानते हैं विवुध या अवुध? मान लीजिए, आप अपने को विवुध मानते हैं और आप समवसरण में पहुँच जाते हैं तो क्या आप परमात्मा के चरणो की पूजा नही करेंगे? उनको नमन नहीं करेंगे? अर्चना नहीं करेंगे? यदि करोगे तो विवुध का अर्थ सिर्फ देव क्यों लेते हैं? क्या उनको ही अधिकार है परमात्मा के पादपीठ के अर्चन करने का ? हमें कोई अधिकार नहीं है। हमें सम्पूर्ण अधिकार है–परमात्मा के पादपीठ के अर्चन, पूजन का और नमन का। उसका पूजा कैसा होता है? भावपूर्वक नमस्कार परमात्मा का पूजन है। इस प्रकार विवुध जनों से अर्चित है पादपीठ जिनका ऐसे कौन हैं? परमात्मा देवाधिदेव। "भक्तामर स्तोत्र" की अनेक परिचया मे अनेक सम्बोधन मिलेगे। प्रत्येक सम्बोधन एक विशिष्ट तत्त्व का अनुमान कराते हैं। इन सम्बोधनों मे कुछ न कुछ रहस्य है, कुछ न कुछ परमार्थ है।

हे विबुधार्चित पादपीठ परमात्मा! लीजिए, मै परिचय प्रस्तुत करता हूँ। परिचय मै दूँगा, लेकिन मै निराश होकर आप के द्वार से लौटने वाला नही हूँ–

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ।
स्तोतु समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ॥

१. **बुद्धया विना**–मेरा पहला परिचय यह है कि मै बिना बुद्धि का हूँ क्योकि मै न तो आपको जानता हूँ और न मै अपने आपको जानता हूँ परन्तु मै इतना अवश्य जानता हूँ कि

"जो जाणादि अरहत दव्वत्त-गुणत्त-पज्जत्तेहि।
सो जाणादि अप्पाण, मोहो खलु जादि तस्स लय॥

जो अरिहत परमात्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय की दृष्टि से अर्थात् पूर्णरूप से जानता है, वही अपने आत्म-स्वरूप को (भी) जानता है (और) उसी के राग-द्वेषादि मोहनीय कर्मो का वास्तव मे नाश होता है।

जीवन मे कुछ ऐसे क्षण आते हैं जब बुद्धि बिगडती है और तब उन क्षणो मे व्यक्ति बडे से बडा पाप भी सहज कर डालता है।

स्मृति का जब नाश होता है तब बुद्धि बिगडती है इसीलिए गीता मे कहा है– "**स्मृतेर्नाशात् बुद्धिनाश** " स्मृति याने स्मरण। स्मरण आत्मा का। मै कौन हूँ उसका सच्चा भान, भ्रांति का टूटना, सम्यक् से जुड़ना है।

मै डॉक्टर नही, वकील नही, सेठ नही, बेटा नही, बाप नही, मॉ नही, पत्नी नही, पति नही, मै तो सत्, चित्, आनन्द और सहज स्वरूप हूँ। मै ज्ञानमय, दर्शनमय और चारित्रमय हूँ।

अफसोस, जगत् को जानने वाला स्वय को ही नही जानता है। दुनियाभर की बाते करने वाले को घर मे से निकाला गया है।

"जो जानता है अन्तर् को, उस अन्तर्यामी को भूल गये।
अफसोस गजब घर वाले ही, घर के स्वामी को भूल गये॥

विगतत्रप –परमात्मा! मुझ मे बुद्धि तो नही है परन्तु प्रभु! मुझे लज्जा-शर्म भी तो नही है। नालायक, बेशर्म या निर्लज्ज उनको कहा जाता है जो अपने पर किये जाने वाले उपकारो का विस्मरण कर दे। परमात्मा! पूर्वाग्रह, पैसा, परिवार, प्रज्ञा, प्रतिष्ठा और पदवीप्रबध रूप इस प्रतिभासित जगत के साथ सबध स्थापित कर मैने आपके पवित्र, शाश्वत, ध्रुव और नित्य ऐसे सम्यक् आत्मधर्म का विस्मरण कर दिया।

काच के पात्र की तरह अत्यन्त नाजुक, प्रत्येक पल मे टूटने की आशका/भय वाले सासारिक प्रावधानो की प्रतिपालना मे मै अपने निजरूप को, आपके वीतरागधर्म को भूल गया और फिर भी आज लज्जा का त्यागकर तेरे सामने आया हूँ।

माता-पिता का इकलौता पुत्र कभी विरासत में मिली पूरी निधि को लेकर माता-पिता से अलग रहने लगे और फिर कभी कमभाग्य से यह सब कुछ खो बैठे तब माता-पिता के सामने आवे तो पिता उसे देखकर क्या कहेंगे–"नालायक! सब कुछ लेकर चला गया और आज गरज होने पर यहाँ पुनः आ रहा है, तुझे शर्म नहीं आती है?"

इस समय माता ने पुत्र की दशा देखी और कहा–"बेटा! आओ! मैं तुम्हें माफ करती हूं। तुझमें बुद्धि नहीं, शर्म नहीं, फिर भी बेटा हमारे प्रति रही तुम्हारी श्रद्धा ही मेरे लिए काफी है।

प्रभु! तू मा है। सत्पथ जननी है। विश्वमैया है। तेरी स्तुति जैसे महान् भगीरथ कार्य में ऐसी बालिशता कैसे काम आएगी? मैं जानता हूँ फिर भी मुझे इसमें तेरे प्रति स्तुति के लिए उद्यत मेरी मति ही आकर्षित करती है, इसीलिए कहता हूँ कि सारे पूर्वाग्रह, पूर्व-स्मरण और पूर्व-कथित प्रेमभावों से मुक्त होकर "स्तोतु समुद्यतमति" वाला हूँ।

ऐसा होता हूँ तब जगज्जीवन! हृदयेश्वर! तेरा विराट परम स्वरूप का एक छोटा सा प्रतिबिम्ब मेरे भक्तिजल से भरे हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित हो रहा है। मेरे एक मात्र शक्ति केन्द्र आप हो प्रभु! जैसे बच्चा माँ की गोद में बैठकर सहसा उसके अद्भुत वात्सल्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है वैसे ही प्रभु! मैं भी निर्दोष भाव (बालभाव) से तेरे निर्दोष वीतराग स्वरूप के दर्शन-स्पर्शन और प्राप्ति का साहस करता हूँ।

"बालं" शब्द से मैं अपने में रही सहज सुलभ निर्दोष वृत्ति का आविर्भाव करता हूँ। जल में पड़ा चन्द्र बिम्ब तो सदा चचल रहता है परन्तु प्रभु! आप तो संस्थित हैं। आपके प्रतिबिम्ब से उत्पन्न विद्युत चुम्बकीय Vibration शक्तिभावों से मुझ में प्रबल तरंगें प्रवाहित हो रही हैं, उत्पन्न हो रही हैं Influx हो रही हैं। इससे मेरी सारी मूलवृत्तियां Instincts यथार्थभाव में परिणत हो रही हैं। यह परिवर्तन मुझे अपने सहज स्वभाव की ओर प्रेरित कर रहा है। आपके प्रतिबिम्बित होने से मुझमें एक ऐसा स्पंदन उठ रहा है जिससे सारे मानसिक आवेग--तनाव (Tension) समाप्त हो रहे हैं। इससे सर्जित-पर्यावरण मेरे दशों प्राणशक्तियों में अवरुद्ध शक्तिप्रवाह को आंदोलित कर रहा है। इन आंदोलनों के अभियोग से अवतरित आपकी स्तुति से बने हुए विशुद्ध वायुमंडल में अनंत जन्मों के बँधे कर्मों की निर्जरा हो रही है।

इस अनन्य आत्मनिर्मलता रूप अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रभु! बालसहज निर्दोषभावों के बिना कौन आपके इस महान प्रतिबिम्ब को अपने हृदय में स्थापित कर सकता है। क्यों कि आप समस्त दोषों से रहित हो।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में कुल ५ तकारों का प्रयोग हुआ है जो क्रम से १ [illegible], २ [illegible], ३ तन्मयता, ४ तल्लीनता और ५ तत्समता –एक विशेष साधना [illegible] है।

आचाराग सूत्र श्रु १. अध्य ५, उद्दे ६, सूत्र ५७८ मे परमात्मरूप प्रकट करने की पाँच "तकार" की महत्वपूर्ण साधना पद्धति दर्शायी है–

१	तद्दिट्ठीए	–	सर्वाग्रहो को त्याग कर तरण-तारणहार की दृष्टि मे एकरूप हो जाना।
२	तम्मुत्तीए	–	परम स्वरूप मे तन्मय हो जाना।
३	तप्पुरक्कारे	–	परमात्मा को सदा आगे रखकर चलना अर्थात् उनके आदेश या आज्ञा के अनुसार जीना।
४	तस्सण्णी	–	परमात्मा के स्वरूप को अपने मन मे, अपने चित्त मे, अपने स्मरण मे निरतर रखना।
५	तन्निवेसणे	–	सदा सर्वदा उनके पास– उनके चरणो मे रहना।

युग-युग तक चिरतन रहे, "भक्तामर स्तोत्र" द्वारा स्तुति करने वाले प्रत्येक भक्त का परिचय बन जाय ऐसा परिचय देकर अब मानतुगाचार्य मिलन की प्रथम रूपरेखा द्वारा अंतिम की आराधना मे लीन हो रहे हैं। हम भी परमात्म-मिलन की ओर आगे बढ़ेगे और चौथे श्लोक के द्वारा मिलन का मत्र पढ़ेगे।

■

४. प्रभु—मिलन

समस्त आवरण और अन्तरायों से परिमुक्त मोह और क्षोभ के जीतने वाले परमात्मा से अव्याबाध समाधि-स्वरूप का संधान हो रहा है।

विरह की वे भावात्मक घड़ियां परिचय में पल्लवित होकर मिलन के रचनात्मक प्रवाह में बदल रही हैं–प्रवाहित हो रही हैं। राजा को आचार्यश्री का मिलन हुआ है और आचार्यश्री को परमात्मा का मिलन हो रहा है। मिलन-मिलन में भी अन्तर है। एक मिलन विवाद उठा रहा था तो एक मिलन जनम-जनम का विवाद मिटा रहा था। एक उठ-उठ कर रूठ रहा था, एक मिट-मिट कर अमिट बन रहा था।

बेड़ियां टूट रही थीं, सिर्फ लोहे की ही नहीं, परमात्म-भाव में बाधक कर्मों की भी। केवल ५६ अक्षरों की अक्षर माला में भक्त अपना सम्पूर्ण परिचय परमात्मा के सामने पेश करता है। स्थान कोई भी होगा, काल कोई भी होगा, व्यक्ति कोई भी होगा। लेकिन भक्त हृदय का व्यक्तित्व "भक्तामर स्तोत्र" के तृतीय श्लोक से अतिरिक्त नहीं हो सकता। ऐसी एक चिरन्तन परिचय माला को परमात्मा के चरणों में प्रस्तुत करते हुए मुनिश्री को परिस्थिति का बन्धन नहीं रोक पाया।

इधर आप जानते हैं आचार्यश्री को बेड़ियों के बंधन में डालकर पुलकित हो रहे राजा को जब इस बात का पता चला कि आचार्यश्री के अन्तःकरण से संस्कृत में एक स्तोत्र प्रकट हो रहा है और जैसे-जैसे एक-एक श्लोक का उच्चारण होता है वैसे-वैसे आचार्यश्री के अंगों पर लटकती हुई किलेबन्द बेड़ियाँ टूटती चली जा रही हैं। उसने सोचा कि जिन शब्दों के माध्यम से ये बेड़ियां टूटती चली जा रही हैं, क्यों नहीं इन श्लोकों को आलेखित किया जाय ताकि मैं भी भविष्य में इनका उपयोग कर सकूँ। उन्होंने लहिया (लेखक) को बुलाया। उसने ताड़पत्र पर लिखना शुरू किया।

वक्तु गुणान् गुणसमुद्र! शशाङ्कक्कान्तान्
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त-काल पवनोद्धत नक्र-चक्र,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्॥४॥

गुणसमुद्र!	–	(हे गुणो के समुद्र!) हे गुणसागर
बुद्ध्या	–	बुद्धि के द्वारा
सुरगुरु प्रतिम	–	बृहस्पति के समान
अपि	–	भी
क	–	कौन मनुष्य ?
ते	–	आपके
शशाङ्ककान्तान्	–	चन्द्रमा के समान उज्ज्वल–ऐसे,
गुणान्	–	गुणो को
वक्तु	–	कहने के लिए–कहने मे
क्षम	–	समर्थ है ?
कल्पातकाल पवनोद्धतनक्रचक्रम्	–	प्रलयकाल की वायु के द्वारा प्रचण्ड है मगरमच्छो का समूह जिसमे ऐसे
अम्बुनिधि	–	समुद्र को
भुजाभ्याम्	–	भुजाओ के द्वारा
तरीतुम्	–	तैरने के लिए
क अलम्	–	कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नही।

आचार्यश्री को दो विरुद्ध समुद्र के दर्शन हो रहे हैं। एक है गुणसमुद्र परमात्मा और दूसरा है विकल्पो से भरा समुद्र! एक है क्षीर समुद्र, दूसरा है लवण समुद्र। क्षीर समुद्र दीखता जरूर हे पर वह दूर नजर आ रहा है, अत क्षीर-अमृत का पान नही कर रहा है। वह क्षीर समुद्र का पान करना चाहता हे परन्तु लवण समुद्र मे जहाँ वह खड़ा है, वहुत लम्वा चोडा ह, उसे साधक को स्वभुजा से ही पार करना है। कितना विकट है यह कार्य ? कितना भयानक हे, कितना विशाल हे यह समुद्र ?

सुधर्मास्वामी ने जवूस्वामी को परमात्मा की पहचान कराते हुए समुद्र की उपमा दी है–

'से पन्नया अक्खयसागरे वा महोदही वा वि अणतपारे'' –सूय अ ६, गा ८

वे (परमात्मा महावीर) प्रज्ञा के अक्षय सागर हैं, महाउदधि हैं–समुद्र के समुद्र इसमे समा जाते हैं, वे अनतपार हैं, अपरपार हैं, फिर भी अनत इसे पा जाते हैं। ऐसे तो अनत मिलकर भी इन एक को नही पा सकते हैं फिर भी अनतानत इन्हें पाकर स्वय अनत हो गये, अपरपार हो गये।

जम्बू! यदि प्रज्ञा से तुम महावीर को समझने का प्रयास करोगे तो महावीर को नही समझ पाओगे। चाहे जम्बू स्वामी हो, चाहे सुधर्मा स्वामी हो, चाहे मानतुगाचार्य हो, चाहे आनन्दघन हो, चाहे मै हूँ, चाहे आप हो, लेकिन सबके सामने यही परिस्थिति आयेगी कि परमात्मा के गुण अनत हैं, नही गाये जा सकते हैं।

योगिराज अनदघन कहते हैं–

"गाय न जाणू, रिझाय न जाणू, ना जाणू सुरभेदा"

मै न तो गा सकता हूँ, न बजा सकता हूँ, न खुद रीझ सकता हूँ, न तुझे रिझा सकता हूँ। ऐसी मेरी परिस्थिति मे हे गुणसमुद्र! "ते शशाककान्तान् गुणान् बुद्ध्या, वक्तु सुरगुरु–प्रतिमोऽपि क क्षम। प्रश्न किया है यहाँ पर कैसे समर्थ हो सकते हैं? कौन किसलिये? ते शशाककान्तान् गुणान् "ते" का मतलब तव, "तव" का मतलब तेरे। गुणो को उन्होने यहाँ "शशाककान्तान्" शब्द से उपमित कर दिया है। तेरे गुण चन्द्रमा जैसे निर्मल हैं।

मै सोचती हूँ यहाँ "बुद्ध्या" व "शशाककान्तान्" शब्द के लिए हम तीसरे श्लोक और चौथे श्लोक को मिलाते चले जाये। दोनो मे "बुद्ध्या" शब्द का प्रयोग है। तीसरा श्लोक "बुद्ध्या विनापि" शब्द से शुरू होता हे और यहाँ दूसरी पंक्ति मे "प्रतिमोऽपि बुद्ध्या" शब्द है। बुद्धि से किस प्रकार गुण गान करने मे समर्थ हो सकते हैं क्योकि बुद्धि तो है नहीं। अत "बुद्ध्या" शब्द को पहले समझने का प्रयास करें। मै तो बिना बुद्धि का हूँ लेकिन बहुत से तेरे भक्त बुद्धिशाली हैं। हे भगवन्! सृष्टि मे अनेक तेरी भक्ति करने के अधिकारी हैं। जिनके हृदय मे भक्ति है, वे तेरे भक्त हैं। जो भी भक्त हैं तेरी भक्ति करने के सम्पूर्ण अधिकारी हैं। मै भले बिना बुद्धि का हूँ लेकिन क्या कोई बुद्धिमान तेरी भक्ति कर सकता है? तेरे गुणो को गा सकता है? तो कहते हैं बुद्धि से, बुद्धि-सम्पन्न यहाँ कोन माने जाते हैं? सुरगुरु याने देवो के गुरु। हालाकि देवो के गुरु का अर्थ बृहस्पति किया जाता हे पर [illegible] न देवो के गुरु मे कही बृहस्पति की गिनती नही है। गुरु का अर्थ स्वामी होता है और देवो के स्वामी का मतलब शक्रेन्द्र, सौधर्मेन्द्र। बारह देवलोक के इन्द्र की यहाँ [illegible] है, क्योकि जब-जब परमात्मा को कोई भी ज्ञान होता है, दीक्षा होती हे, जन्म होता है, निर्वाण होता है, कोई भी कल्याणक होते हैं उस समय शक्रेन्द्रादि आते हैं और परमात्मा की स्तुति करते हैं। तब मानतुगाचार्य के सामने प्रश्न आया मै मनुष्य होकर [illegible] नहीं कर सकता तो क्या इन्द्रादि देव कर सकते हैं? तो कहा "प्रतिमोऽपि बुद्ध्या" [illegible] उनके जैसी बुद्धि वाले कोई भी। "वक्तु" याने कहने के लिये "क क्षम।"

अर्थात् समर्थ नही होते हैं। "**गुणान्**" कैसे गुणान्, तो कहते हैं "**शशाककान्तान् गुणान्**" "शशाक" शब्द चन्द्र का पर्यायवाची है। तीसरे श्लोक मे **इन्दु बिम्बम्** चन्द्र परमात्मा का प्रतीक था। चौथे श्लोक मे उपमान स्वय उपमित हो रहा है।

चन्द्र को इतना महत्व मानतुगाचार्य ने क्यो दिया है ? चन्द्र जैसे निर्मल। यो देखा जाय तो गुण और चन्द्रमा दोनो मिलते ही नही। चन्द्रमा इतना निर्मल नही है जितने परमात्मा के गुण निर्मल हैं। फिर भी उन्होने चन्द्र शब्द से गुणो को उपमित कर लिया है। इसका क्या कारण था ? आप जानते हैं कि चन्द्र का मन के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। किसी भी ज्योतिषी के पास अपना टेवा लेकर जावो और वह यह कहता है कि आपका चन्द्र बहुत प्रबल है तो आप समझेगे कि आपका मन शक्तिशाली है और यह कहे कि आपका चन्द्र निर्बल है तो इसका मतलब है कि इस दुनिया की घटनाए कुछ भी होगी लेकिन आप अपने मन से पराजित होते जायेगे।

इसके अतिरिक्त दूसरी जगह "चन्द्र" शब्द का प्रयोग देखेगे–सिद्धो के गुणो के लिए, सिद्ध शिला के लिए। सिद्धो के स्वरूप का वर्णन करते समय "**चदेसु निम्मलयरा**", चन्द्र से भी निर्मल। इस प्रकार "चन्द्र" शब्द का हमारे साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। योगशास्त्र के अन्दर विशुद्धि चक्र मे चन्द्र का ध्यान करने का विधान है। कभी तेज गरमी या तीव्र धूप मे बैठकर विशुद्धि चक्र का ध्यान करोगे तो आप जैसे Air-Condition मे बैठे हो वैसी ही शीतलता महसूस करोगे।

ऐसी एक योग विधि है जिसका कोई भी प्रयोग कर सकता है। और इसकी प्रतीति भी कर सकता है कि जो प्रतिबिम्बित होता है वही मै हूँ और कोई नही।

हे गुण समुद्र! मै तेरी परिचर्या इसलिये कर रहा हूँ कि तू जैसा है वैसा का वैसा मै भी गुणो का स्वामी हूँ। मुझ मे अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त वीर्य है लेकिन जैसे बादल से सूर्य ढका रहता है वैसे मेरे समस्त गुण आवृत हैं। मै तेरे अधीन इसलिये हो रहा हूँ कि तू सर्वथा कर्मो से मुक्त है। तेरा स्मरण करके मुझे अपने कर्म तोडने हैं, इसलिए हे परमात्मा! तेरे गुणो का स्मरण कर मै अपने गुणो को आविर्भूत करना चाहता हूँ।

एक बात निश्चित है कि परमात्मा के अनन्त गुणो मे से एक गुण की भी याचना कर आप गुण प्राप्त नही कर पायेगे, लेकिन उनके गुणो का स्मरण करके हम मे जो गुण आवृत हैं उनको अनावृत करेंगे, उनको चीरेंगे, उनको फाडेगे, उनको खोलेगे और भीतर से हम अपने आप को परमात्म स्वरूप मे पायेगे। इन दो पक्तियो मे भक्त मानतुगाचार्य हमे इतना ऊपर उठा लेते हैं कि हमे लगता है, हम भी अनन्त गुण के स्वामी हैं, हम भी ,९ ।. । से कुछ कम नही हैं। प्रश्न इतना ही है कि उनके गुण प्रकट हो चुके हैं, हमारे गुण अप्रकट हैं। अब अगली पक्तियो मे इस आवरण के कारणो को समझाते हैं–

कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्र।

को वा तरीतुमलमम्बुनिधि भुजाभ्याम्॥

देखिए, जैसे स्वय के गुणो को प्रकट करने का प्रयास किया जाता है, एक वहुत वडा व्यवधान आ जाता है "**कल्पान्त काल पवनोद्धत नक्र चक्र।**" कल्प का अन्त याने प्रलयकाल। प्रलय काल का मतलव आरे का विसर्जन काल। यह सामान्य अर्थ है लेकिन इसका विशिष्ट अर्थ भी है।

कौनसा कल्प और कोनसा अन्तकाल है, जिस अन्त काल मे पवन उद्धत होता है। नक्र चक्र का मतलव होता है मगरमच्छ, मत्स्य वगैरह जो कि उस समय ऊपर आयेंगे। एसे विकट समय मे यदि समुद्र को भुजाओ के द्वारा कोई तिरना चाहे तो क्या तिरा जा सकता है? प्रलयकाल की तो वात क्या करें, आज भी भुजाओं के वल पर ऐसे समुद्र को पार नही कर सकते हैं।

अव प्रश्न है आचार्यश्री ने यहॉ पर "**कल्पात**" शब्द का प्रयोग क्यो किया? कौन से कल्पात काल की उनके दिल मे चर्चा थी? कौन सा पवन हमारे साधना काल मे उद्धत होता है? आर कौन से मगरमच्छ आकर हमारी साधना का विध्वस कर देते हैं? ऐसी जो चीजे हैं उनको यदि आज नाथ लिया जाय तभी हम आगे वढ़ पायेगे अन्यथा हमारी यात्रा यहीं पर अवरुद्ध हो जायेगी, रुक जायेगी।

एसा मत समझना कि जिनेश्वर की आराधना या उनका मार्ग हमने कभी नही पाया। इस अनन्त जन्म की यात्रा मे कई वार ऐसे काल वीत गये, उनकी सेवा भक्ति पूजा करने का कई वार मौका मिला होगा, लेकिन हमारी यह कमजोरी रही कि हमारे कल्प का जव-जव अन्त काल आता गया, उस उद्धत पवन के सामने, उन उद्धत मगरमच्छो के सामने हम स्वय अपनी भुजाओ के वल पर तैरने के लिये कूद पडे थे आर मगरमच्छो के मुँह मे ॐ स्वाहा हो गये थे। मुनिश्री को आज गलती महसूस हो रही है और उन्होने कहा– परमात्मा! कई वार तेरी आराधना करके भी मै गिर पड़ा हूँ। तेरा जिसने एक वार भी ध्यानपूर्वक मनन कर लिया, उसका पुन ससार परिभ्रमण नही हो सकता, इस वात की सम्पूर्ण प्रतीति होने के वावजूद भी इस आत्मा ने कई वार परिभ्रमण किया है। कौन सी गलती हो रही है? कौन सी कमजोरी है? जिस कमजोरी को इस जन्म मे "भक्तामर स्तोत्र" के माध्यम से हमे खोल देनी है। आचार्यश्री के माध्यम से हमे इन समस्याओ को सुलझाना है। कल्प शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ कई वार होता है।

एक महत्वपूर्ण कल्प शब्द से हम सम्बन्धित हैं जो हम मे रात-दिन उठता रहता है। जिसे हम कल्पना भी कहते हैं। इसी से सकल्प-विकल्प शब्द निकले हैं। इन विकल्पो के अन्तकाल की चर्चा आचार्यश्री का ध्येय रहा है। कल्प के अन्त पर जो स्थिति है वह निर्विकल्प स्थिति है।

ऐसी निर्विकल्प स्थिति के लिए जब साधक निकलता है तब उसे कौन अवरुद्ध करता है? तो कहते हैं पवन उद्धत होता है और बडे-बडे भयकर मगरमच्छ उठते हैं। पवन याने मन। जब मन उद्धत होगा तो समस्त इन्द्रियॉ और प्राण उद्धत होगे और उनके उद्धत होने से अध्यवसाय दूषित होते हैं। और, जब अध्यवसाय दूषित होते हैं तो ससार के सारे विषम आवेग रूप मगरमच्छ उसको आकर घेर लेते हैं। अनेकानेक विकृतियो से मन उद्वेलित हो जाता है। इस निर्विकल्प (कल्पात) स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को अनेक प्रयास करने पडते हैं। परमात्मा का स्मरण या शरण-ग्रहण इस साधना मे परम सहयोगी रहकर सफल करता है। "भक्तामर स्तोत्र" का यह श्लोक इसकी अभिव्यक्ति है।

प्रभु! ऐसे इस महासमुद्र को मुझे भुजाओ से पार करना है। यह कैसे सभव है? यहॉ "क अलम्" शब्द से प्रश्न को विराम देकर यह आशा सूचित कर रहे हैं कि "परमात्मा! मै अवश्य इसे पार करूँगा क्योकि मुझे सामने तुझ स्वरूप गुणसमुद्र नजर आ रहा है। तेरे इस झलकते प्रतिबिम्ब के सहारे मै इसे अवश्य पार कर लूँगा। तेरे गुणो का स्मरण कर, शरण-ग्रहण कर तेरे चरणो मे नमन कर तुझ-मुझ मिलन के मन्त्र को अन्तर्मन मे प्रस्थापित करता हुआ जन्म-जन्म के बन्धनो से मुक्ति पा लूँगा।"

५. बन्धन

ससार मे घटनाओ का, विषमताओ का आना अत्यन्त सहज एव स्वाभाविक है। व्यक्ति के जीवन मे कुछ ऐसी विशिष्ट परिस्थितिया आती हैं जिन्हें व्यक्ति चाहते हुए भी नहीं रोक पाता है लेकिन घटनाओ मे भी घटनातीत होकर घटनाओ से किसी प्रकार से विचलित नही होना, साधना है। ऐसी उच्चकोटि की महान साधना का जीवन मे प्रकट हो जाना, यही तो साधना का रहस्य है। जिस रहस्य को आचार्यश्री ने स्तोत्र द्वारा ससार के सामने प्रस्तुत कर दिया है।

मात्र बाह्य घटनाओ से ही परिचित नही रहते हुए उनके भीतरी अन्तस्थलो की ओर पहुँचगे, जहाँ घटनाओ मे रहते हुए आचार्यश्री घटनातीत हो गये। देह मे रहते हुए देहातीत हो गये। पार्थिव मे रहते हुए अपार्थिव के दर्शन कर लिये। आज "भक्तामर स्तोत्र" को सिर्फ रहस्य का प्रतीक मानकर चमत्कारो से भरपूर मान लिया है। यद्यपि इसमे चमत्कार हे, इस बात मे कोई शका नही है। व्यक्ति जो चाहता है वे सारे मनोवाछित इस "स्तोत्र" से पूर्ण होते हैं। ससार मे ओर कोई नही दे सके, ऐसी अनुपम उपलब्धि भी "भक्तामर स्तोत्र" के अर्न्तगत निहित हे। जो चमत्कारो का भी चमत्कार है ओर वह यही है कि देह मे रहते हुए भी देहातीत स्थिति का अनुभव करना। बधन मे रहते हुए भी निर्वन्ध की स्थिति का अनुभव करना। वर्तमान स्थिति मे देख रहे हैं—कर्म क्षेत्र मे व्यक्ति का अपना सामञ्जस्य बहुत कष्ट भरा होता जा रहा हे। ऐसी स्थिति मे जीवन के वे रहस्य जो हमे अनादिकाल से नही मिल पा रहे हैं, उन्हें भक्ति के माध्यम से खोलने का काम आज "भक्तामर स्तोत्र" कर रहा है।

जो परमात्मा के असीम प्रेम के बधन मे बध गया, उसे बेड़ियो के बधन कैसे बाँध सकते हैं? मिलन यदि बधन मे बँधे नही तो मिलन कैसे सफल हो? परमात्मा के प्रति होने वाली [illegible] का बधन मुक्ति का महामत्र है—सिद्धि का परम सूत्र हे, योगो से जुड़ाकर [illegible] की ओर ले जाने वाला यत्र ह, चौदह राजुलोक के सर्व शुभभावो की स्वीकृति का [illegible] है।

[illegible] के प्रति होने वाले इस साधना-वन्धन ने साधक मे पहले "को अह" मै कौन हूँ की जिज्ञासा उत्पन्न की। जिज्ञासा अनुसधान का आधार बनी। अनुसधान आत्मा का [illegible] "सो अह" रूप साकार हो गया और आचार्यश्री के मुख से निकला—

सोऽह तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश।
कर्तु स्तव विगतशक्तिरपि प्रवृत्त ।

प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशो: परिपालनार्थम् ॥५॥

मुनीश !	=	हे मुनीश्वर ! (साधुओ के स्वामी)
स	=	वह
अहम्	=	मै
तथापि	=	फिर भी
भक्तिवशान्	=	भक्ति के कारण
विगतशक्ति	=	शक्ति रहित
अपि	=	(होते हुए) भी
तव स्तव कर्तुम्	=	तुम्हारी स्तुति करने के लिए
प्रवृत्त	=	तत्पर हूँ,
मृगी	=	हरिणी
प्रीत्या	=	प्रीति से
आत्मवीर्यम्	=	अपने सामर्थ्य को
अविचार्य	=	बिना विचारे
निजशिशो	=	अपने बच्चे की
परिपालनार्थम्	=	रक्षा करने के लिए
किम्	=	क्या ?
मृगेन्द्र न अभ्येति	=	सिह का सामना नही करती ? (अर्थात् अवश्य करती है)

परमार्थ –हे मुनीश! ईश याने स्वामी! हे मुनियो के स्वामी! नाथ! केवल मेरे (मानतुग के) ही नही परन्तु सभी मुनियो के स्वामी ! जिन्होने भी बाह्य-आभ्यतर दोनो ग्रन्थियो को और सासारिकता को छोड़ दिया, उन सर्व के स्वामी। एक मानतुग जैसे हजारो हजार मानतुग तेरे शासन पर न्यौछावर हो गये। हजारो साधु-साध्वियो का तू ही एक नाथ! तेरे विना सभी अनाथ! हाय, जिनके पास तू नही, तेरी आज्ञा नही, तेरी शीतल छाया नहीं वह सत होकर भी भिखारी है। मेरे स्वामी! शासन का कोई सत तेरी शीतल छाया से दूर न रहे।

सो अहम्=वह मै। कितना गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है इस "सो अहम्" मे । तीसरे श्लोक मे स्वय का परिचय देने वाला कह रहा है– कि विना वुद्धि का, विना शर्म का, विना विचार का और विना शक्ति का "वह मै"।

"आचाराग सूत्र" मे निहित "सो अहम्" शव्द भी व्यापक अर्थ मे प्रज्ञापित हे–

"सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसचरइ सोऽहम्।"

—आचाराग श्रुतस्कध १, अध्ययन १, उद्देशक १

१ जो सव दिशाओं और सव अनुदिशाओ से आकर अनुसचरण करता है, वह मै हू।

२ दूसरी व्याख्या होती है– इस परिभ्रमण या बुद्धिहीन अवस्था को जो मिटाता है, वह भी मैं हूॅ।

जो परिभ्रमण करता है, जन्म-मृत्यु, सयोग-वियोग, सुख-दु:ख की अनुभूति करता है, वह मैं हूॅ। प्रगतिमय भी मैं हूॅ, पतनमय भी मैं हूॅ, जो बधनो मे बधा है वह भी मैं हूॅ, जो बधना से सर्वथा मुक्त हो सकता हे वह भी मै हूँ। निश्चय दृष्टि से अभी भी अनत ज्ञान-दर्शन स्वरूप मुक्तात्मा भी मै हूँ।

तुरन्त का जन्मा एक सिह शिशु एक बार एक चरवाहे के हाथ चढ़ा। उसने उसे भेड़ बकरिया के समूह मे छोड़ दिया। वह सिह का बच्चा बकरियो के साथ बे-बे करना सीख गया। घास खाने लगा, छोटे-मोटे कुदके मारने लगा, उसे कभी इस बात का पता नही चला कि वह इस रीत-भात के लिए योग्य नही है।

एक दिन इस समूह के सामने दहाड़ता हुआ सिह आया। सब बकरियॉ भाग गई, लेकिन वह सिह शिशु उस वनराज के सामने अनिमेष दृष्टि से देखता रहा। देखते ही उसके मन मे कुछ अगम्य प्रश्न उठने लगे– मै कौन हूॅ? मै बकरी नही, मै बे-बे करने वाला नही, घास खाने वाला नही, कुदके मारने वाला नही।

ना ना ना मैं–मैं उसमे से कुछ नहीं हूॅ। तो मै कौन हूॅ?

हॉ मै वही हूॅ। वह सिह ही मे हूॅ। वही मेरा स्वरूप है।

जोर से दहाड़ता हुआ बड़ी छलाग मार कर वह सिह के पास जाकर खडा हो गया और कहने लगा "तू ही मै हूँ और अत में ही मैं हूँ। यह धुन उसे लग गई।

सच्चिदानद स्वरूप आत्मा। अनतज्ञानी। अनतदर्शी। अनत चारित्री। महासमृद्धिमान्। सचमुच सिह। वकरियों के समूह में फस गया। क्षुद्र याचनाओं में दीन हो बे बे करता है, विषय-कषाय की घास खाता है, जीवन के क्षणिक सुखों के लिए कुदके मारता है।

परमात्मा का झलकता हुआ प्रतिविम्ब उसे यह समझाता है कि इस प्रवृत्ति के तू योग्य नही है।

तथापि तव भक्तिवशात्" तथापि याने फिर भी। जैसा हूँ वैसा फिर भी "तव" तेरा हूॅ।

स्तोत्र" मे प्रयुक्त विविध शब्दो के सयोग से "तव" शब्द के यहॉ तीन महत्वपूर्ण अर्थ निकलते है।

१ सोऽहम् तथापि तव–बुद्धिहीन, शर्महीन, विचारहीन और शक्तिहीन वैसा मै, फिर भी तेरा हूं। समर्पण के चरम शिखर पर पहुँचा हुआ साधक परमात्मा से अपनी कपट रहित अवस्था मे स्व-आलोचना करता है। रागद्वेष से सर्वथा रहित सपूर्ण वीतरागदशा मे लीन परमात्मा को ऐसा कहना "मै तेरा ही हूँ" (अन्य किसी का अव हो नही सकता) विचित्र तो लगता है परन्तु भक्ति की परमोच्चदशा में यह क्षम्य है।

२ तव भक्तिवशात्–तेरी भक्ति के अधीन हो, तेरे विशिष्ट परमार्थ-भाव से प्रभावित होकर   मे भक्त तेरा, और मुझसे की जाने वाली भक्ति भी तेरी। यहाँ समर्पण की सर्वोच्चता का अन्तिम अभियान निखरता है।

३ तव स्तव कर्तुं प्रवृत्त –तेरी स्तुति करने के लिए तत्पर हूँ। सन्नद्ध हूँ। वृत्त याने अवस्था, दशा, प्रकृति। हे परमात्मा! मै आज प्रकर्ष भाव से, प्रमोदभाव से ओर प्रसन्न भाव से अपनी सासारिक अवस्था का विसर्जन कर तुझ स्वरूप मे लीन होकर निजस्वरूप को प्रकट कर रहा हूँ। तेरी स्तुति करने के लिए चित्त प्रसन्न अवस्था वाला मे तुझे पाकर धन्य हो गया।

मृगी प्रीत्या आत्मवीर्य अविचार्य निजशिशो परिपालनार्थं मृगेन्द्र कि न अभ्येति।

सामान्य रूप से इसका अर्थ है–हरिणी प्रीति से अपने वत्स की रक्षा करने के लिए अपनी सामर्थ्य को विचारे बिना क्या सिंह का सामना नही करती अर्थात् अवश्य करती है।

उदाहरण ऐसा है–एक वन के भीतर एक हरिणी अपने बच्चे को लेकर लाड़-प्यार के साथ उसे पाल रही थी। अचानक एक वनराज सिंह आता है, हरिणी के बच्चों को पकड़ने का प्रयास करता है। वह हरिणी से उसके बच्चे की छीना-झपटी करता है। हरिणी अपने बच्चे की रक्षा के लिए सिंह का मुकाबला करती है। आचार्यश्री किसको सुना रहे थे? मुझे नहीं, आपको नहीं, राजा को नहीं, विद्वान को नही, नगर जनो को नही, वे तो स्तुति कर रहे थे एक मात्र परमात्मा के प्रति। उन्होने परमात्मा से प्रश्न पूछा–परमात्मन्! क्या वनराज जिस समय उस हरिणी के बच्चो को झपटने के लिये प्रयास करता है, उस समय मृगी उस वनराज का मुकाबला नहीं करेगी?

इस प्रकार आचार्यश्री ने इन पक्तियो मे आत्मा के परमात्म स्वरूप को समझाने के लिए एक बहुत सुन्दर रूपक योजना प्रस्तुत की है जैसे–

मृगी – हरिणी–माता का प्रतीक परमात्मा

शिशो – बच्चा–आत्मा

मृगेन्द्र – सिंह–विषय-कषाय

हे परमात्मा! अनादिकाल से विषय-कषाय के सिह मुझ पर (आत्मा पर) आक्रमण कर रहे है। ऐसी अवस्था मे हे विश्वजननी! तू क्या चुपचाप देखती रहेगी और तेरा भक्त–आत्मा क्या लाचार, विवश और मजबूर होकर इन विषय-कषायो का शिकार बनता रहेगा? परिभ्रमण करता रहेगा? अर्थात् ऐसा नही हो सकता है। मा! तू तेरे शिशु को शीघ्र ही इस शिकारी से बचाकर परिभ्रमण से सर्वथा मुक्त कर। तुझ स्वरूप मे स्थिर कर।

इस श्लोक में प्रीति, शक्ति और भक्ति इन तीन शब्दो का अर्थ बडा महत्व रखता है। अनन्त शक्तिमान् भक्त बिना परमात्मा के स्वय को शक्तिहीन मानता है। शक्ति का प्रयोग आत्मा के लिए प्रयुक्त है। भक्ति का प्रयोग परमात्मा के लिए प्रयुक्त है अत "तव भक्तिवशात्" तेरी भक्ति के प्रभाव से ऐसा शब्द प्रयुक्त है। और प्रीति शब्द मे माता-पुत्र के स्नेह-सम्बन्ध द्वारा दोनो के लिए इसका प्रयोग किया है। यहाँ भी इस शब्द द्वारा आत्मा-परमात्मा के साधना-सम्बन्ध को दर्शाया गया है। वस्तुत आत्मा की मौलिक नैसर्गिक कर्म रहित अवस्था ही परमात्म स्वरूप है। आत्मा जब अपने इस निर्विकार निर्विकल्प स्वरूप का ध्यान कर वीर्योल्लास प्रकट करती है, तब ससार के विषय-कषाय से वह मुकाबला कर सकती है। बधनों से मुक्त होती है। कर्मों से रहित होती है।

भीतर यदि बारूद भरा होगा, बाहर की हलकी सी चिनगारी भी विस्फोट कर सकती है। भीतर से विषय-कषाय जिसके नष्ट हो जाते हैं, उसे बाहर का विकारी पर्यावरण कैसे विकृत कर सकता है? इस प्रकार हे परमात्मा! तेरे प्रति रहा मेरा अनुराग ही मेरी मुक्ति का अभियान है।

श्लोक – ६-७

बन्धन दो प्रकार के होते हैं–द्रव्य-बधन और भाव-बधन। बधन आखिर बधन ही है। बधन से मुक्ति अनिवार्य हो, ऐसा हम सब चाहते हैं। पूर्व मे हमने देखा–भक्त भगवान को, आत्मा परमात्मा को अपनी भक्ति के बधन मे बाधने का प्रयास कर रहा है। द्रव्यरूप से आचार्यश्री ४८ बेड़ियो के बधन में बधे हुए थे। जिसमे से ५ बेड़ियो के बधन टूट चुके हैं, शेष बेड़ियों के बधन उनके अगोपाग पर लटक रहे हैं, लेकिन अभी तक आचार्यश्री ने कभी भी परमात्मा को इस बात के लिए उपालभ नही दिया कि–प्रभु! तेरे भक्त को ये बेड़ी के बधन क्यो? अभी तक नही और शायद कभी भी नही। सभी बेड़ी के बधन टूट भी जायेगे लेकिन आचार्यश्री कभी भी परमात्मा से अनुनय-विनय नही करेंगे कि मुझे बेड़ी के बधन से मुक्त कर दो। भक्ति की विवशता जब चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है, तब बाह्य बधन अपने आप टूटते चले जाते हैं।

यह सोचकर हमे आश्चर्य हो सकता है कि सिद्ध भूमि में विराजमान परमात्मा का क्या इतना प्रभाव हो सकता है कि उनके स्मरण से बेड़ी के बधन टूट जायँ? जो सदा स्वात्म मे स्थिर है, स्व-आनद मे लीन है, उसका मिलन क्या, मिलन का बधन क्या? आज तक जीव ने कई सम्बन्ध बाधे, कभी तो किसी सम्बन्ध ने उसे ऐसी प्रसन्नता प्रदान नही की? आत्मा-परमात्मा के बीच मे ऐसा कौन सा नाता है? कैसा यह सम्बन्ध है? कौनसा ऐसा प्रबल निमित्त है जो भक्त के लिए प्रेरणादायी बन जाय और मिलन से बधन तथा बधन से मुक्ति दिला दे।

आचार्यश्री ने परमात्मा से कहा कि इन बेड़ियो से मुझे कोई परेशानी नहीं है। ऐसे बधन तो कई बार आये और आते रहे, जुड़ते रहे, टूटते रहे हैं। मुझे चिन्ता है ससार के बधन की और अब मुझे इससे मुक्ति का मार्ग भी मिल गया है और वह मार्ग है तुम्हारे बधनों में बध जाने का। जब तक भक्ति का बधन भक्त के ऊपर नही आयेगा, तब तक वह द्रव्य-बधनों से मुक्त नहीं हो पाता है। भक्ति का मार्ग अत्यन्त Delicate है लेकिन यह Short Cut भी है और इसी कारण सर्वश्रेष्ठ है, जिसे अपनाकर आचार्यश्री कदम-ब-कदम आगे बढ़ रहे हैं। धीरे-धीरे परमात्मा के बधन मे अधिक बधते हुए वे इस बात की निश्चय स्थिति पर पहुँच रहे हैं जहाँ बधन भी निर्बन्ध की परिणति बन जाते हैं। निर्बन्ध के बधन में यह एक बहुत बड़ी ताकत है, वह कभी भी हमे बधनो से मुक्त कर सकता है। आचार्यश्री मुक्ति पथ पर आगे बढ़ने के लिये, सारे बधनो को तोड़ने के लिये

एक विशिष्ट ध्यान प्रणाली में संयुक्त होते हुए परमात्मा के चरणों में भक्ति से विवश हो चुके हैं। नम्रता के भावों से मस्तक झुका हुआ है। अन्तःकरण में परमात्मा का आह्वान और तीन निमन्त्रण की मनन साधना के द्वारा अन्तश्चेतना जिनकी जागृत हो रही है, सम्यक्त्व जिनके आत्म-प्रदेशों में सम्यक्‌रूप से फैल चुका है, यथार्थ-बोधि की जिनको प्रतीति हो चुकी है, ऐसे आचार्यश्री में एक अभेद स्वर प्रकट होता है–

अल्पश्रुत श्रुतवता परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिल किल मधा मधुर विरौति,
तच्चारुचूतकलिका – निकरैकहेतु ॥ ६ ॥

अल्पश्रुतम्	–	अल्पज्ञानी, (और)
श्रुतवताम्	–	श्रुतधरों के (आप)
परिहासधाम	–	परिहास का पात्र/प्रसन्नता का धाम
माम्	–	मुझको
त्वद्भक्तिः एव	–	आपकी भक्ति ही
बलाद्	–	बलपूर्वक – जबरन
मुखरीकुरुते	–	वाचाल कर रही है,
किल	–	निश्चय में – सचमुच
कोकिल	–	कोयल
मधौ	–	बसन्त ऋतु में
मधुरं	–	मधुर स्वर में
विरौति	–	कुहुकती है
तत्	–	वह

मे सोचती हूँ अल्पज्ञानी और अज्ञानियो से तो पूरा ससार भरा है। क्या परम श्रुतधर इन सवकी मजाक कर सकते हैं ? और यदि ऐसा सही है तो फिर करुणा कौन करेगा ?

कोशकारो के अनुसार "हास" शब्द के दो अर्थ हैं–

१ हसी – मजाक, २ प्रसन्नता।

विशेष मे इस पर "परि" उपसर्ग लगा है। "परि" शब्द उपसर्ग के रूप मे धातु या सज्ञाओ से पूर्व लगकर सर्वत , चारो ओर, इधर-उधर, इर्द-गिर्द, बहुत, अत्यन्त अर्थ मे प्रयुक्त होता है। अव इसके प्रयोग देखे–

परि + वार–चारो तरफ से जहॉ वार होते हैं, जैसे–सुख-दु ख के, प्यार–तिरस्कार के, अच्छे-वुरे आदि से घिरा हुआ।

इसी प्रकार–

परिग्रह – चारो तरफ से पकड़ा हुआ, घिरा हुआ

परिभ्रमण – अत्यन्त भटकनेवाला

परिक्रिया – बाड़ लगाना

परिक्रम – प्रदक्षिणा लगाना

परिचय – जान – पहचान

मजाक के अर्थ मे "हास" शव्द के पूर्व "उप" उपसर्ग प्रसिद्ध था। धीरे-धीरे "परिहास" शव्द भी इसी अर्थ में व्यापक हुआ, वरना दोनो उपसर्ग अपने अलग-अलग रूप मे ही व्यापक हैं और दोनो के अर्थ मे अन्तर भी है।

जैसे परिहार–उपहार। यहा परिहार याने छोड़ना–तिलाजलि देना है और उपहार याने आहुति–भेटादि। परिक्रम–उपक्रम। परिक्रम याने चारो ओर घूमना, प्रदक्षिणा करना और उपक्रम आरभ–शुरू करना।

इन सवको देखकर यहॉ "हास" शव्द प्रसन्नता वाचक मानकर परि उपसर्ग लगने से "सर्वत प्रसन्नता के पात्र" ऐसा अर्थ अधिक उचित लगता है। और इस प्रकार परमात्मा मे अभिप्रेत होकर पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होता है–

(आप परम वीतराग हो) अल्पज्ञानी और श्रुतधर (इन सव) के आप सर्वत प्रसन्नता के (अनन्य) पात्र हो, अत हे प्रभु! सचमुच तुम्हारी भक्ति मुझे हठात् मुखरित करती है।

ससार में कहीं भी जायेंगे–कोई किसी न किसी रूप मे दु खी है, कोई किसी न किसी रूप में तकलीफ पा रहा है। परम स्वरूप ही ऐसा है, जिसके चारों तरफ केवल आनन्द ही आनन्द है, प्रसन्नता ही प्रसन्नता है। आप "लोगस्स" में वोलते हो–"तित्थयरा मे पसीयन्तु"। तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न होओ। उनकी प्रसन्नता, उनका आनन्द-प्रसाद हम सबको प्राप्त होवे। नीचे देखो, ऊपर देखो, मुख पर देखो, चरण देखो, उनकी वाणी देखो, उनका व्यवहार देखो, उनके शब्द देखो, जो भी देखोगे, जहॉ भी देखोगे वही प्रसन्नता

पा आगे। आर यदि उनका स्मरण करके प्रसन्नता नही मिलती है तो समझ लेना कि हमारी भक्ति मे कहीं न कहीं कमी है।

"चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्यु
पूजा अखंडित एह रे"

उक्त स्तवन का एक ही फलितार्थ है कि व्यक्ति मे कहीं न कही चित्त की प्रसन्नता प्रस्फुटित होनी चाहिये।

परमात्मा प्रसन्नता के धाम हैं और हम उनसे प्रसन्न होना चाहते हैं। प्रसन्न का स्मरण करेंगे तो हमे प्रसन्नता मिलेगी। दु खी का साथ करेंगे तो दु ख मिलेगे। प्रसन्नधाम का साथ करेंगे तो प्रसन्नता अपने आप मे प्रस्फुटित हो जायेगी। यह वात निश्चित है कि परमात्मा की प्रसन्नता हमको नही मिलती है। हम मे ही प्रसन्नता है। यह प्रसन्नता प्रसन्न–धाम के पास पहुँच करके सम्पूर्ण अनावृत हो सकती है।

आगे कहते हैं–"माम् त्वद्भक्तिरेव वलात् मुखरीकुरुते" मुझे तुम्हारी भक्ति ही "वलात्" याने जवरदस्ती "मुखरीकुरुते" याने वोलने के लिये विवश कर रही है। "माम्" याने मुझे। "माम्" कहने वाले सिर्फ मानतुगाचार्य नही, सिर्फ दिव्यप्रभा नही, माम् कहने वाले आप सव हो सकते हो। याद रखिए, इसके शव्दो के निर्मित अर्थ मे वध जाओगे तो भक्तामर आपको आज नही, कभी भी नही मिल सकेगा। लेकिन भावो से एकरूपता स्थापित करोगे तो भक्तामर आप मे आज भी जीवत हो उठेगा। आचार्यश्री ने "माम्" शव्द को रखकर सव भक्तजनो को अपने साथ कर लिया है। उन्होने यह समझाया कि "माम्" याने मुझे। "मुझे" से मतलव जो भी "भक्तामर" का स्तवन करेगा उन सबको। "त्वद् भक्तिरेव" तुम्हारी ही भक्ति, और किसी की नही। "वलात् मुखरीकुरुते" जवरदस्ती वाचाल करती है।

"**मुखरीकुरुते**" चाहता तो हूँ मौन रहकर तेरी आराधना करूँ परन्तु बलात् मेरी वाचा प्रकट हो रही है। परमात्मन्! मै न तो बोलता हूँ, न गाता हूँ लेकिन मेरे से जबरदस्ती बोला जा रहा है।

पूर्व में हमने देखा था–भक्त विवश हो रहा था लेकिन विवशता की एक सीमा होती है। विवशता मिट जाती है लेकिन बलात् असीम होता है।

इस प्रकार "बलात्" शब्द भक्ति को एक चरम सीमा तक ले जाता है।

१ "बलात्" शब्द का प्रयोग कर आचार्यश्री यह कहना चाहते हैं कि ऐसे तो मौन रहकर ही तुम्हें मना सकता हूँ परन्तु तुम्हारे प्रति रही हुई भक्ति बलात् ही मुझे मुखरित कर रही है।

२ तू वीतराग है, अनुपम है, तू तुझ मे ही लीन है, तू चाहने न चाहने के सारे द्वन्द्वो से भी मुक्त है, फिर भी मैं बलात् ही तुझे अपने हृदय मे बाध रहा हूँ।

अब आचार्यश्री एक बहुत सुन्दर दृष्टात बताते हैं–

यत्कोकिल· किल मधौ मधुरं विरौति।

तच्चारुचूतकलिका – निकरैकहेतु ॥

जैसे आम्रवृक्ष के ऊपर जब मजरी आती है तब मजरी के उस समूह को देखकर कोकिल पक्षी कूजना शुरू कर देता है और वह समय मधौ याने वसन्त ऋतु का होता है। कोकिल को कौन कहने जाता है कि अब वसन्त ऋतु आ गई है, लेकिन आम्र-मजरी को देखकर कोकिल समझता है कि वसन्त ऋतु आ गई है।

ओ आनन्द के धाम! आपकी पूर्ण वीतरागता से मै अपनी निज स्वाभाविकता को अभिप्रेरित कर रहा हूँ। सर्वतः प्रसन्न तेरी शान्तमुद्रा को हृदय मे स्थापित कर चित्त को प्रसन्न कर रहा हूँ।

ससार के इस सम्यक्त्व उपवन मे मेरे जीवन की धर्म वसन्त पुरबहार खिल रही है, मै कितना भाग्यशाली हूँ। तुम तो पचम काल में मेरे सामने साक्षात् हो रहे हो और भक्तिबल से मैं प्रत्यक्ष स्तुति कर रहा हूँ। पचम काल मे ऐसी परमार्थ भक्ति एव आत्मानुभव धर्मलब्धि का यह कैसा मधुर मौसम है।

आपके सद्गुणो की, वीतरागभावो की, आत्मिक प्रसन्नता की मजरियाँ देखकर मेरा आत्म-कोकिल कूक उठता है, कुहुकता है। मेरी कूक है मुक्ति की। परमात्मन्! इस कूक मे कूक मिल जाय, मिलन का बधन हो जाय और बधन की मुक्ति हो जाय।

अब मैं तेरे बधन मे बँध गया। अपने कर्मों की, अपने पापो की, अपनी जन्म-परम्पराओं की मुक्ति का अभिप्रयोग मागता हूँ। ऐसे परार्थ भाव मे लीन आचार्यश्री के भीतर से वाणी प्रस्फुटित होती है।

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्ध,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।

आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥७॥

त्वत्संस्तवेन	– आपके स्तवन से
शरीरभाजाम्	– देहधारी जीवो का–प्राणियो का
भवसन्ततिसन्निबद्धम्	– परम्परागत भवभवान्तरों से बंधा हुआ
पापम्	– पापकर्म
आक्रान्तलोकम्	– समस्त लोक में फैले हुए–संसार भर मे व्याप्त
अलिनीलम्	– भ्रमर के समान काला
सूर्यांशुभिन्नम्	– सूर्य की किरणों से छिन्न-भिन्न (लुप्त) किया हुआ
शार्वरम्	– रात्रि विषयक–रात्रि में होने वाले
अन्धकारम्	– अन्धकार के
इव	– समान
अशेषम्	– सब का सब
क्षणात्	– क्षण भर में–शीघ्रातिशीघ्र
क्षयम्	– विनाश को
उपैति	– प्राप्त हो जाता है।

होता है, परम्परा। पाप कैसे हैं तो कहते हैं कि सतति रूप। ससार मे स्त्री-पुरुष बध्य हो सकते हैं लेकिन पाप कभी बध्य नही हो सकते हैं। एक पाप दूसरे पाप को, दूसरा पाप तीसरे पाप को लाता ही जाता है। पाप की अपनी एक विशिष्ट परम्परा है और उस परम्परा का विच्छेद करना है। परमात्मा के सिवाय यह कैसे सभव है?

व्यक्ति जब दु'खी होता है तब सोचता है, मुझे दु'ख क्यो आया? एक बात निश्चित है कि कोई किसी को दु'ख नही दे सकता है।

हमारे कर्म अशुभ हो तभी हम दु'खी हो सकते हैं। दु'खी होते हैं कर्म से, लेकिन कर्म कौन देता है? क्या हमे कोई जबरदस्ती कर्म देता है? नही न! तो फिर कर्म कहा से आते हैं? तो कहते हैं–पाप से कर्म आते हैं। हमारी गलती यह है कि हम दु'ख हटाने का प्रयास करते हैं लेकिन पाप हटाने का प्रयत्न नही करते हैं। हमारी पाप की फैक्ट्री सतत चालू रहती है। पाप आते हैं, कर्म लाते हैं, कर्म आते हैं, दु'ख लाते हैं। इसलिये आचार्यश्री ने परमात्मा से दु'ख का नाश नही मागा किन्तु पाप का नाश मागा। देखिए, कितना सुन्दर आयोजन बताया उन्होने। ऐसा कभी नही कहा कि तेरे जैसा भगवान मेरे साथ हो और मुझे कोई राजा बेड़ियों मे बाध दे? उन्होने ऐसा भी नही कहा कि तू आकर के इन बेड़ियो को तोड़ दे।

पाप तो अनादिकाल से हैं। इन्हें तोड़ने के लिये कितने घटे चाहिये– ४ घटे, ८ घटे, १२ घटे।

हमारे पास वैसे तो कोई शक्ति नही है कि अनादिकाल के पापो को क्षण भर मे तोड़ सके, लेकिन क्षण भर में अनादिकाल के पापो को बाध सकते हैं, यह ताकत हम मे अवश्य है। इस ससार को क्षण भर मे बाध सकते हैं इतनी ताकत तो हम मे है, लेकिन अनादिकाल से सलग्न ससार को क्षण भर मे तोड़ने का बल हम मे नही है।

आचार्यश्री कह रहे हैं–अनादिकाल के पापो का क्षण भर मे नाश हो सकता है। हम आचार्यश्री से प्रश्न पूछेंगे कि जो अनादिकाल से पाप करते आये हैं, उनको क्षण भर मे कैसे तोड़ सकते हैं? यह कैसे सभव हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यश्री ने आगे की पंक्तियो मे दिया है–

आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥

एक बहुत सुन्दर उदाहरण द्वारा आचार्यश्री यहाँ समाधान

सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त भवरे जैसी अमावस्या की काली हटाने के लिये कितने घटे चाहिये? १२, १५ घटे के अधकार को भर मे नष्ट कर देती है। उसी प्रकार अनादिकाल के पाप कृपा रूपी किरण के द्वारा क्षणमात्र मे नष्ट हो सकते हैं।

प्रथम श्लोक में परमात्मा के लिए एक विशेषण का प्रयोग किया गया "उद्योतकम्" अर्थात् उद्योत करनेवाले, प्रकाश करनेवाले। जो प्रकाश करता है, आलोक जगाता है वह अन्धकार को तोड़ता है, अत प्रथम श्लोक मे कहा है "दलितपापतमो वितानम्" पाप के तिमिर का नाश करनेवाले। आप ध्यानपूर्वक देखेगे तो इस श्लोक मे उस विशेषण का [illegible] यहाँ पाओगे।

अब यहाँ आगे "सूर्य अशु भिन्न" शब्द है। अशु का मतलब होता है किरण। सूर्योदय के पहले उजाला शुरू हो जाता है। उसके बाद सूर्योदय होता है। करीब-करीब हमारे यहाँ उस उजाले की २४ मिनट की मर्यादा मानी गई है। अत कहते हैं–सूर्य की किरणे निकलने के साथ ही अधकार को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर देती हैं, भेद कर देती हैं, तोड़ देती हैं और अधकार को प्रकाश में परिवर्तित कर देती हैं।

इसलिए कहा है–"भत्तीइ जिणवराण खिप्पति पुव्वसचिया कम्मा" परमात्मा के [illegible] देह और आत्मा मे रही हुई अभेद बुद्धि छिन्न-भिन्न हो जाती है। इसे ही भेदविज्ञान कहते हैं। यह देह मेरे से सर्वथा भिन्न है। बेड़ियो के बधन तो देह पर लटक रहे हैं। न देह [illegible] है, न मैं देह का हूँ। देह में उत्पन्न कोई भी अवस्था मेरी नहीं है।

इस भेद विज्ञान से अनादिकाल का मिथ्यात्व टूटता है, सम्यक्त्व प्रकट होता हे। जब देह और आत्मा में भेद बुद्धि प्रकट होती है, देह का अध्यास छूटता है तब आत्मा का [illegible]दर्शन स्वरूप प्रकट होता है। कहा है–

> "छूटे देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म,
> नहीं भोक्ता तू तेहनो एज धर्म नो मर्म।
> एज धर्मथी मोक्ष छे तू छे मोक्ष स्वरूप,,
> अनत दर्शन ज्ञान तू अव्याबाध स्वरूप" ॥

"आत्मसिद्धि" में कहा है–

> कोटि वर्ष नु स्वप्न पण जागृत थता समाय,
> तेम विभाव अनादिनो ज्ञान थता दूर थाय।

करोड़ वर्षों का स्वप्न जगने पर क्षणभर मे ही टूट जाता हे। उसी प्रकार ज्ञान होते ही [illegible] की विभाव पर्याय, देह मे रही हुई आत्मबुद्धि क्षणभर मे ही दूर हो जाती है।

श्री [illegible]सूरिजी महाराज ने "किकर्पूरमय स्तोत्र" बनाया है जिसके अन्तर्गत [illegible] ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं –

> विश्वव्यापितमो हिनस्ति तरणिर्बालोपि कल्पाङ्कुरो।
> दारिद्र्याणि गजावली हरिशिशु काष्ठानि वन्हे कण ॥ (श्लोक ६)

अन्धकार को [illegible] तुरत का उदित सूर्य भी क्षणभर मे नाश कर सकता है।

श्लोक - ८

७. प्रारम्भ

प्रारम्भ वही श्रेष्ठ होता है जिसमें पूर्णाहुति निहित हो। जिस प्रारम्भ से सफलतापूर्वक पूर्णाहुति नहीं हो सकती है, उस प्रारम्भ से हमारा कोई सम्बन्ध नही होता। जिस प्रक्रिया के द्वारा सफलता का संकेत मिलता हो उसी का हम अपने जीवन मे प्रयोग करते हैं, जिस परिस्थिति में हमें सफलता दृष्टिगोचर होती हो उसके लिए हम प्रयत्न करते हैं।

आठवे श्लोक का प्रारभ भक्तामर स्तोत्र का प्रारम्भ है। आठवे श्लोक का प्रारभ भक्त और भगवान के मिलन का प्रारभ है। आठवें श्लोक का प्रारभ हमारे निज स्वरूप की पहचान का प्रारभ है और आठवे श्लोक का प्रारभ हमारी अनादि काल की जो खोज चल रही है उसकी पूर्ण उपलब्धि का प्रारभ है। इस प्रकार यह श्लोक बहुत महत्व का श्लोक है। ७ अभी तक परमात्मा के साथ भेद रहा है। मै अलग हूँ, परम स्वरूप मुझ मे अलग है। जब तक अलगाव है तब तक हम जिस पूर्णाहुति की आकाक्षा करते हैं वह परिपूर्ण नहीं होती। इस आकाक्षा के साथ अनुराग और अनुराग के साथ उपलब्धि, ये हमारी [illegible] सार्थकता है।

२. **कल्पाकुरो दारिद्र्याणि**	–	कल्पवृक्ष का अकुर मात्र भी दारिद्र्य का नाश कर सकता है।
३. **गजावलीं हरिशिशु**	–	सिह का बच्चा भी गजपंक्ति का नाश कर सकता है।
४ **काष्ठानि वन्हे कण.**	–	अग्नि का कण भी काष्ठ समूह का नाश कर सकता है।
५ **पीयूषस्य लवोऽपि रोगनिवहे**	–	अमृत की एक बूँद भी रोग समूह का नाश कर सकती है।
यद्वत्तथा	–	उसी प्रकार
विभो ते मूर्ति	–	परमात्मा तेरा स्वरूप
त्रिजगति कष्टानि	–	तीनो जगत के कष्टों का
हर्तुं क्षम	–	नाश करने मे समर्थ है।

यह तो वैधानिक सिद्धान्त है कि जहॉ तू आ गया, तेरा स्तवन आ गया, तेरी भक्ति हो गई वहाँ अनादि काल के, जन्म-जन्म के, भव-सततिरूप सन्निबद्ध पाप क्षण मे ही क्षय को प्राप्त होते हैं। हे परमात्मन्! जिसका आत्मा रूपी कोकिल कूजेगा उस कूज मे तेरी कृपा की कूज मिल जायेगी, मिलन का बधन हो जायेगा, बधन मे मुक्ति का मार्ग मिल जायेगा। इस मार्ग पर हमारे कदम बढ़ते जायेगे और मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत होता जायेगा। अगले रविवार को वास्तविक स्तोत्र की भूमिका का प्रारभ हो रहा है।

मुनिश्री परमात्मा के साथ Adjust हो गये, Agreement हो चुका है, भक्त– परमात्मा से बध चुका है, बंधन से मुक्ति का मार्ग मिल गया है। अब मुक्ति मार्ग पर प्रयाण के प्रारभ को हम आठवे श्लोक के द्वारा हम मे अनुस्यूत करेंगे।

२	**कल्पाकुरो दारिद्र्याणि**	–	कल्पवृक्ष का अकुर मात्र भी दारिद्र्य का ना कर सकता है।
३.	**गजावलीं हरिशिशु**	–	सिह का बच्चा भी गजपंक्ति का नाश क सकता है।
४	**काष्ठानि वन्हे कण**	–	अग्नि का कण भी काष्ठ समूह का नाश क सकता है।
५	**पीयूषस्य लवोऽपि रोगनिवहे**	–	अमृत की एक बूँद भी रोग समूह का नाश क सकती है।
	यद्वत्तथा	–	उसी प्रकार
	विभो ते मूर्ति	–	परमात्मा तेरा स्वरूप
	त्रिजगति कष्टानि	–	तीनो जगत के कष्टो का
	हर्तुं क्षम	–	नाश करने मे समर्थ है।

यह तो वैधानिक सिद्धान्त है कि जहाँ तू आ गया, तेरा स्तवन आ गया, तेरी भक्ति गेई वहाँ अनादि काल के, जन्म-जन्म के, भव-सततिरूप सन्निबद्ध पाप क्षण मे ही क्षय व प्राप्त होते हैं। हे परमात्मन्! जिसका आत्मा रूपी कोकिल कूजेगा उस कूज मे तेरी कृपा व कूज मिल जायेगी, मिलन का बधन हो जायेगा, बधन मे मुक्ति का मार्ग मिल जायेगा। इ मार्ग पर हमारे कदम बढ़ते जायेगे और मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत होता जायेगा। अग रविवार को वास्तविक स्तोत्र की भूमिका का प्रारभ हो रहा है।

मुनिश्री परमात्मा के साथ Adjust हो गये, Agreement हो चुका है, भक्त- परमात्मा से बध चुका है, बधन से मुक्ति का मार्ग मिल गया है। अब मुक्ति मार्ग पर प्रया के प्रारभ को हम आठवे श्लोक के द्वारा हम मे अनुस्यूत करेंगे।

सता – सत्पुरुषो के, सज्जन पुरुषो के
चेत हरिष्यति – चित्त को हरण करेगा
ननु – निश्चय से
उदबिन्दु – जल की बूँद
नलिनीदलेषु – कमलिनी के पत्तो पर
मुक्ताफलद्युतिम् – मोती की कान्ति को
उपैति – प्राप्त करती है।

सर्वश्रेष्ठ सम्बोधन "नाथ!" शब्द के द्वारा यहाँ परमात्मा के मिलन का प्रारभ हो रहा है। नाथ शब्द रखकर भक्त अपना सर्वस्व समर्पित कर रहा है। हे नाथ! तेरे बिना अभी तक मै अनाथ था, तुझे नाथ कहते ही मेरी अनाथता समाप्त हो गई और नाथत्व प्रकट हो गया, क्योंकि नाथ ही नाथ बनाता है, अनाथत्व मिटाता है।

प्रारभ मे "**इति मत्वा**" शब्द भी अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्बन्ध को प्रस्तुत करता है। "इति" याने "ऐसा" और "मत्वा" याने "मानकर"। "ऐसा मानकर" कहते ही प्रश्न उठता है "कैसा मानकर?" इस प्रश्न का उत्तर ऊपर के सात श्लोको से ही अभिव्यक्त होता है। आत्मा–परमात्मा के पूर्व सम्बन्ध का संकेत सुदृढ़ कर यह शब्द समापत्ति की योजना को अनावृत करता है।

पूर्व नियोजित सात श्लोको मे मेरा और आपका मेरे द्वारा माना हुआ सम्बन्ध इस प्रकार है। आप मेरे लिये–

१ उद्योत करने वाले,
२ घने अधकार रूप पापो के विस्तार का नाश करनेवाले,
३ ससार रूप समुद्र मे गिरते हुए प्राणियो के परम आलम्बन,
४ देवेन्द्रो द्वारा सस्तुत,
५ जिनका चरणासन विबुधो द्वारा अर्चित है,
६ गुणो के सागर हैं, और
७ आपके स्तवन से अनादिकालीन परम्परा का सर्जन करनेवाले पापो का क्षण मे ही नाश होता है।

मै स्वय को आपका

१ निश्चय से स्तुति करनेवाला (ऐसी प्रतिज्ञावाला)
२ बिना बुद्धि का
३ बिना लज्जा का
४ स्तुति करने के लिए समुद्यत मतिवाला

मोती की शोभा को प्राप्त होती है वैसे मेरे मुख से निकले ये शब्द स्तवन की शोभा को प्राप्त होते हैं।

ननु याने निश्चय से यह तेरे **"चेतो हरिष्यति"** चित्त का हरण करेगा ही। क्योकि तुझे ही सुनाने को, मनाने को यह स्तवन कर रहा हूँ।

जहाँ भाव होता है वहाँ प्रभाव होता है। ऐसी विशिष्ट उपलब्धि से वंचित सामान्य व्यक्ति इस परिस्थिति से अनभिज्ञ होने से इसका अनुभव नही कर पाता है और इसी भ्रान्तिपूर्ण मिथ्यादृष्टि से वह इसे ही गलत भी मान सकता है। ऐसी एक सफल मानसदशा की विलक्षण अभिव्यजना हम भाव-प्रभाव नामक प्रवचन मे गाथा ९ के द्वारा प्राप्त करेंगे।

■

श्लोक-९

८. भाव-प्रभाव

द्रव्य एक, सहज एव स्वाभाविक तत्त्व है। द्रव्य का आना, द्रव्य का होना, द्रव्य का [illegible]ना, द्रव्य का द्रव्य से सम्बन्ध बनना यह बहुत स्वाभाविक होता चला जा रहा है। [illegible]काल व्यतीत हो चुके हैं लेकिन हम यह देख रहे हैं कि द्रव्य घटनाओ को उद्वेलित [illegible] है और घटनाएँ हजारों भावों को उभारती हैं। भावकर्म हमारी अपनी ही [illegible] चेतनरूप है। ये भाव हमें स्वभाव से विभाव मे परिवर्तित करने का प्रयत्न [illegible] हैं। इस समय घटनाओ के निमित्त से ही आत्मद्रव्य की पहचान कर निजभाव और [illegible]प्रभाव द्वारा भीतर से घटनातीत होने की कला हमें भक्तामर स्तोत्र से उपलब्ध [illegible] है।

[illegible] द्रव्य है, भक्ति भाव है और स्तवन से टूटना प्रभाव है। द्रव्य से भाव बडा है और [illegible] प्रभाव बड़ा है। द्रव्य की कोई कीमत नहीं होती। चन्दनबाला के उड़द के बाकुले [illegible] मूल्य था, लेकिन चन्दना के भाव मूल्यवान थे और उन भावो से भी बढ़कर [illegible] प्रभाव था। इस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा भावो का और भावो की अपेक्षा [illegible] मूल्य अधिक है।

भाव और प्रभाव के इस महत्त्व को आचार्यश्री ने बहुत अच्छी तरह से समझाते हुए [illegible]-

आस्ता तव स्तवनमस्त-समस्त-दोष,
त्वत्सकथाऽपि जगता दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरण कुरुते प्रभैव,
पद्‌माकरेपु जलजानि विकासभाञ्जि॥९॥

दुरितानि	– पापो को, अपराधो को
हन्ति	– हनन करती है, नष्ट करती है
सहस्रकिरण	– सूर्य
दूरे	– दूर (है फिर भी उसकी)
प्रभा एव	– कान्ति ही
पद्माकरेषु	– सरोवरो मे
जलजानि	– कमलो को
विकासभाञ्जि	– विकसित, प्रफुल्लित
कुरुते	– कर देती है।

दूर-दूर आकाश मे रहा हुआ सूर्य किरणो को सर्वत फैलाता है। उनमे से कुछ किरण सरोवर के बन्द कमलो को खोल देती हैं। इस उदाहरण द्वारा यहॉ परमात्मा के प्रभाव की अद्भुतता प्रकट की गई है।

हे परमात्मा! तेरे भक्ति प्रभाव के कारण यह तेरा स्तोत्र शब्द, अर्थ, रचना और भाव आदि समस्त सम्बन्धित दोषो से रहित हो रहा है, समस्त दोषो का अस्त हो रहा है। भाषा-लालित्य, भाव-प्रधानता, तत्त्व-दुर्बोधता आदि अनेक कारणो से तेरा स्तवन सुगम्य नही हो सकता है। फिर कइयो को भक्ति रस के आस्वादन का भी बोध नही होता है। इन सभी दृष्टिकोणों से तेरा यह निर्दोष स्तवन कितना आस्वाद्य और आह्लादजनक हो रहा है। इसका महत्वपूर्ण कारण मेरे ऊपर तेरा अभूतपूर्व प्रभाव है।

स्तवन की इन सुगम्यता से अनभिज्ञ यदि तेरी अनुभूत जिदगी के प्रसगो का चिन्तन करे तो भी वह सर्व दुरितो से मुक्त हो सकता है। क्योकि, तत्त्व को पृष्ठभूमि मे रखकर समत्व द्वारा प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थितियो को तूने अनुकूल बनाली है। इसी विशेषता से ही तू सृष्टि का महान तत्त्व है।

सामान्य व्यक्ति तत्त्व की अगम्यता के कारण अनुकूल को प्रतिकूल बनाता है। तूने प्रतिकूलताओ को अनुकूल बनाकर चेतना का विस्तार और विकास किया। तू सिद्धलोक मे मुझसे सात राजुलोक दूर है। अजर, अमर, अशरीरी, अयोगी, अलेशी, अकषायी और अकर्मी है। तेरे गुणो की स्तुति करने वाला मै इस मृत्युलोक पर जन्म-मृत्यु की महायात्रा के चक्कर काट रहा हूँ, फिर भी तेरे स्तुति-गान और जीवनकथा-श्रवण का यह अचिन्त्य प्रभाव है कि मेरे पाप-कर्म और अनिष्टो का नाश हो रहा है।

भक्त के हृदय की भक्तिभावपूर्वक की उर्मियॉ, स्पदन, तरगे (Vibration) तेरे निरजन, निर्लेप, चैतन्य, सिद्धावस्था तक पहुँचकर तेरे वीतरागत्व का स्पर्शकर इस आत्मकमल को विकसित करती हैं। इस प्रकार तू दूर भी है परन्तु तेरी कृपा किरण मेरे आत्म-कमल को विकसित करती है।

कमल – भक्तात्मा

पानी की बूँदे – शब्द

मोती - स्तवन-स्तोत्र

यहाँ बेड़ी का बधन आ जाना द्रव्यस्थिति है। उस द्रव्यस्थिति मे घटनाओ के द्वारा स्वय को विचलित न होने देना, स्वय मे स्थिर रहना तथा परमात्मभाव मे एकाग्र रहना भाव है। भाव जब परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तब परमात्मा के प्रभाव से बेडियो के बन्धन टूटते हैं। वर्तमान युग मे हमारी स्थिति ऐसी विचित्र है कि हम परमात्मा के प्रभाव को चुनौती देते हैं, परन्तु स्वय के भावो का कोई भरोसा नही है। बिना भावो का प्रभाव सभव नही है।

इन्ही प्रभावो को मुख्य लक्ष्य बनाकर हम भक्तामर स्तोत्र का मूल्याकन या आराधन करते हैं। भावो का अभाव प्रभाव के उद्देश्यो को पूर्ण नही कर पाता है। इसी अधूरेपन से कभी अधीरता बढ़ती है, कभी टूटती है। ऐसा अद्भुत स्तोत्र प्राप्त होने पर ऐसा क्यो होता है ? इस आश्चर्य का उत्तर श्लोक १० के द्वारा समझने का प्रयत्न करेंगे।

■

श्लोक - १0

९. आश्चर्य

घटनाओं का होना वहुत स्वाभाविक है केवल आचार्यश्री पर ही नही, हम सवके ऊपर घटनाओं का नहीं आना ससार का एक आश्चर्य है, घटनाओं का आ जाना ससार की एक स्वाभाविकता है। ससार का कोई भी प्राणी, कोई व्यक्ति, कोई जीव ऐसा नहीं होगा जिसके ऊपर घटनाओं ने कभी प्रहार न किया हो।

घटनाओं मे घटनातीत रहना ससारियों के लिये आश्चर्य है। इसी कारण आचार्यश्री की वेड़ियों का टूट जाना हमारे लिए एक वहुत वड़ा आश्चर्य हो गया। जो हममें नहीं होता और किसी विशेष मे वह हो जाना, आश्चर्य है।

आश्चर्य को विशेष परिप्रेक्ष्य मे देखने पर हमें अद्‌भुतता प्राप्त होती है, वह यह कि आश्चर्य आचार्यश्री को भी था और आश्चर्य तत्समय उपस्थित जनसमुदाय को भी था। लेकिन दोनों के आश्चर्य में वड़ा Difference था, अन्तर था। लोगों को आश्चर्य था विना साधनो के अनायास वेड़ियो के वधन टूटने का और आचार्यश्री को आश्चर्य था परमात्मा के वीतराग दर्शन का। वीतरागी का वीतरागत्व रागी के लिए एक वहुत वड़ा आश्चर्य होता है।

अधिकाश वाल-जीव परमात्मा की वाह्य विभूति से प्रभावित होते हैं और इस विभूति को देखकर इस प्रकार सोचते हैं कि हम उनको नमस्कार करेंगे तो हमें भी ऐसी विभूति प्राप्त होगी। इस वाह्य विभूति से परमात्मा का महत्त्व समझना हमारी सवसे वड़ी भ्रान्ति है। क्योंकि, परमात्मा की आन्तरिक विभूति उनका सवसे वड़ा वैभव है। सर्वश्रेष्ठ विभूति इस ससार की हमारे अरिहन्त और सिद्ध के पास होती है और वह है उनका वीतरागत्व। हमारा यह सवसे वड़ा सौभाग्य है कि सवसे पहले वीतरागता का दान, वीतरागता की समझ, वीतरागता के ख्याल, वीतरागता के सिद्धान्त और वीतराग वन जाने का सन्मार्ग हमे परमात्मा ने प्रस्तुत किया।

गौतम स्वामी ने परमात्मा महावीर से एक वार पूछा था–हे परमात्मन्! आप परमात्मा वन गये, हम सवको उपदेश देते हैं, लेकिन हम भी कभी परमात्मा वन सकते हैं क्या? परमात्मा ने कहा–वनना और होना इन दोनों में वड़ा Difference है। कोई परमात्मा वनता नहीं है, परमात्मा हो जाता है। तुम स्वय परमात्मा हो। आत्मा से परमात्मा हो जाना, अपने ही स्वभाव में आ जाना है। गौतम! जिसने आत्मा का इस वाह्य वातावरण के साथ अभेद कर रखा है उसे शरीर पर होने वाली क्रियाओं की भावात्मक प्रतिक्रिया होती है। वह सारी देह पर्याय को आत्मरूप मानकर देह-स्वभाव को आत्म पद में आरोपित करता है। परमात्मा पद याने इन भावात्मक प्रतिक्रियाओं से रहित हो जाना है।

हम परमात्मा की आराधना इसलिए करते हैं कि–हम सतत राग और द्वेष से भरे हुए हैं। हमने कभी उनके जैसा वीतरागत्व का अनुभव नही किया। वीतराग अच्छे लगते हैं लेकिन वीतरागपना किसी को नही भाता है। परमात्मा ने कहा–राग और द्वेष को छोड़े बिना किसी का मोक्ष नही होगा। इस वीतराग धर्म की अंतिम शर्त है–राग और द्वेष का त्याग करो।

एक आश्चर्य हमें यह भी हो सकता है कि आचार्यश्री को बेडी के बधन क्यो आये ? कितने पुण्यवान होते हैं सत, कौन उनको बेडी मे बॉध सकता है ? आचाराग सूत्र में कहा है–"**एस वीरे पससिए जे बद्धे पडिमोयए**" अर्थात्–वही वीर प्रशंसित होता है जो बद्ध को मुक्त करता है। हर समय वह यही सोचता है कि मै किस मार्ग पर चल कर बधनों से मुक्त हो जाऊँ और अन्यो को बन्धनो से मुक्त करूँ। जिसने सर्वथा सतत बधनो से मुक्त होने के लिये प्रयास किये उनको क्यो बेड़ी के बधनो मे बाधे गये ?

इस विशेष आश्चर्यजनक घटना का प्रभाव शक्रेन्द्र पर पडता है और शक्रेन्द्र का आसन चलायमान होता है। वे आचार्यश्री के पास आते हैं। नमस्कार की मुद्रा मे उनके पैर पकड़ लेते हैं।

स्पर्श का अनुभव कर आचार्यश्री ने कहा–"कौन हो तुम ?"

उन्हो ने कहा–"मैं परमात्मा महावीर का भक्त हूँ। उनके शासन का प्रेमी हूँ, उनके सतो का दास शक्रेन्द्र हूँ।"

"तुम किसलिए यहॉ आये हो ?

"मै जैन शासन का चमत्कार बताने के लिये, आपकी बेड़ी के बधन तोड़ने के लिये और आपके अरमानो को पूर्ण करने के लिये।"

"क्या तुम मेरे अरमानो को पूर्ण करोगे और शासन का चमत्कार बताओगे ? शासन तो अपने आप मे स्वय चमत्कारिक है और हर समय रहेगा, उसका चमत्कार बताने वाले तुम कौन हो, शासन स्वय परमात्मा देवाधिदेव से प्रभावित है।"

"भन्ते ! मैं तुम्हारी बेडी के बधन तोडना चाहता हूँ।"

"लेकिन बेड़ी के बधन क्यो आये शक्रेन्द्र ? इसके कारण को देखो न ! कोई किसी को बेडी के बधन में नही बाध सकता। कहा भी तो है–

"शु करवाथी पोते सुखी, शु करवाथी पोते दु:खी।
पोते शु क्याथी छे आप, तेनो मागो शीघ्र जवाब॥"

हम सुखी और दु खी क्यो होते हैं, इसका उत्तर किसी से मत मागो, अपने आप मे ढूँढ़ लो। यदि तुम यह समझते हो मुझे कोई दु:ख दे रहा है लेकिन किसी की ताकत नही कि

आपको दु ख दे सके। किसी की ताकत नहीं कि आपको सुख दे सके। सुख और दु ख के सम्पूर्ण उत्तरदायी तुम स्वय हो। स्वय के कर्म के प्रभाव से सुख और दु ख की अनुभूतियाँ जीवन में प्रकट होती हैं और इन अनुभूतियों को समझकर उसके साथ सामञ्जस्य स्थापित करना जीवन की कला है।

दु ख का कारण दूसरे को मानना यह हमारी सबसे बड़ी भ्रान्ति है। कोई भी व्यक्ति, परिस्थिति, वस्तु या अवस्था हमारे सुख-दु ख के कारण नही हो सकते हैं। अनुकूलता का अनुभव सुख है और प्रतिकूलता का अनुभव दु ख है, परन्तु यह तब जब हमारा अनुभव बाह्य पर्यावरण तक आश्रित हो। अनुभव जब निजस्वरूप का भोक्ता हो जाता है, सुख-दु ख का द्वन्द्व टूट जाता है, भ्रान्ति और भय मिट जाता है। माने जाने वाले सुख-दु ख के कारण हम स्वय ही है, हमारे कर्म हैं।

शक्रेन्द्र, बेड़ी के बधन इसलिए आये क्योंकि मेरे साथ कर्मों के बधन निहित थे। जहाँ कर्मों के बधन हैं वही बेड़ी के बधन हैं, जैसे ही कर्मों के बधन टूटते हैं वैसे ही बेड़ी के बधन अपने आप टूटते जाते हैं। यदि आप मेरी सेवा ही करना चाहते हो, कुछ तोड़ना ही चाहते हो तो बेड़ी के बधन नहीं, मेरे कर्मों के बधन तोड़ दीजिए।

शक्रेन्द्र ने कहा—भन्ते! ससार मे ऐसा कौनसा व्यक्ति है जो किसी के कर्म के बधन को तोड़ सकता हो? क्या कोई व्यक्ति, क्या कोई तत्त्व ऐसा आपने देखा है? किसी के भी कर्मों को कोई भी नहीं तोड़ सकता। स्वय के कर्मों के बधन स्वय को ही तोड़ने पड़ते हैं।

भन्ते! मैं बेड़ी के बधन को तोड़ सकता हूँ, कर्मों के बधनों को तोड़ने में समर्थ नहीं हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—शक्रेन्द्र! तुम जहाँ से आये वहीं लौट जाओ। मुझे तुम्हारी किसी भी प्रकार की सेवा-सहायता की आवश्यकता नहीं है। मैं उनका ध्यान कर रहा हूँ, मैं उनकी शरण मे जा रहा हूँ जिनकी शरण में जाने से, जिन की भक्ति करने से मेरे कर्मों के बधन टूट सकते हैं। उनके ध्यान की एकाग्रता में सर्व प्रकार की घटनाएँ मुझमें समभाव लाती हैं। जहाँ विषमता है, वहाँ कर्म है। जैसे ही विषमता टूटेगी, समता आयेगी, वहाँ पर कर्म का क्षय होना प्रारम्भ हो जायेगा। कर्मक्षय की बहुत बड़ी कला वीतराग परमात्मा के प्रति समर्पण और समता की है। जहाँ विषमता है, वहा कर्म है। जहाँ समता है वहाँ कर्म का क्षय है। शक्रेन्द्र आश्चर्यचकित होकर स्वस्थान लौट पड़े।

इन आश्चर्यों को अब हम क्रम से देखेंगे—

१ पहला आश्चर्य आचार्यश्री पर बेड़ी के बधन आना।

२ दूसरा आश्चर्य बेड़ी के बधन तोड़ने का प्रयास नहीं करना।

३ तीसरा आश्चर्य किसी दैवीय चमत्कार को बताने के लिये स्तोत्र का सर्जन नहीं करना।

४ चौथा आश्चर्य भावनाओं को उभारकर अभिव्यक्त करना।

५. पाँचवॉ आश्चर्य परमात्मा के साथ तात्त्विक सम्बन्ध स्थापित करना और उनके प्रभाव से बेड़ियो के बधनो का टूटना।

कर्म पुद्गल द्रव्य है, आत्मा चेतन द्रव्य है। इस चेतन द्रव्य के ऊपर पुद्गल द्रव्य ने अपना अधिकार जमाया है, अपना प्रभाव जमाया है, लेकिन जैसे-जैसे परमात्मा का प्रभाव आता गया कर्म का प्रभाव क्षय होता गया और जैसे कर्म का प्रभाव हटता गया परमात्मा का प्रभाव पूरित होने लगा, जिसे हम आश्चर्य मानते हैं। आचार्यश्री के लिए वह कोई आश्चर्य नही है। इसे सहज और स्वाभाविक मानकर आचार्यश्री ने परमात्मा के साथ तात्त्विक सबध के द्वारा अपने जीवन मे किस प्रकार परिवर्तन किया ? किस प्रकार आत्मा अपनी वर्तमान स्थिति मे आगे बढ़ कर प्रगति करता है। इसे हम श्लोक के माध्यम से समझेगे—

नात्यद्‌भुत भुवन-भूषण! भूतनाथ!,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त:।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति? ॥१०॥

भुवनभूषण	– हे विश्व के शृगार!
भूतनाथ	– हे जगन्नाथ–हे प्राणियो के स्वामिन्!
भूतै:	– विद्यमान
गुणै:	– गुणो के द्वारा
भवन्तम्	– आपकी/आपको
अभिष्टुवन्त:	– स्तुति करनेवाले/प्रीति करने वाले/भक्ति करनेवाले
भुवि	– पृथ्वी पर
भवत	– आपके
तुल्या	– सदृश, समान
भवन्ति	– हो जाते हैं
अति	– अधिक, बहुत
अद्‌भुतम्	– आश्चर्यजनक, विचित्र, विलक्षण
न	– नहीं है
वा	– अथवा
ननु	– निश्चय से
तेन	– उस
किम्	– क्या

य	– जो (मालिक)
इह	– इस लोक मे
आश्रितम्	– अपने अधीन सेवक को
भूत्या	– विभूति से, धन-सम्पत्ति से, ऐश्वर्य से
आत्मसमम्	– अपने समान
न	– नहीं
करोति	– करता है

यहा पर दो सम्बोधन चिह्नो द्वारा परमात्मा को सम्बोधित किया गया है।

१ भुवनभूषण और

२ भूतनाथ

दोनो ही सम्बोधन विशिष्ट सम्बन्ध का सामजस्य प्रस्तुत करते हैं।

भुवनभूषण से मतलब है–हे परमात्मा आप इस लोक के भूषण हो, अलकार हो। आपसे यह भुवन सुशोभित होता है। लोक से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर जो लोकोत्तर हो गये, लोक के अग्रभाग मे सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके उनका फिर लोक के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है? ऐसा प्रश्न हम सबको हो सकता है। भक्तामर स्तोत्र इस प्रश्न का उत्तर देकर लोकोत्तर का लोक पर रहा प्रभाव दर्शाता है। श्लोक सात के द्वारा यह बताया कि परमात्मा से लोक आलोकित होता है। श्लोक आठ और नौ के द्वारा बताया परमात्मा से लोक प्रभावित होता है और यहाँ बता रहे हैं परमात्मा से लोक सुशोभित होता है। परमात्मा के आलोक से हमारा पापान्धकार हटता है। परमात्मा के प्रभाव से हमारे वीतरागभाव का अभाव हटता है और परमात्मा-सुशोभन से हमारी अनादिकालीन कर्मजन्य अशोभनीयता हटती है। जब मिथ्याभाव का अभाव और समभाव का आविर्भाव होता है तब ही भक्त परमात्मा के आलोक, प्रभाव और सुशोभन का अनुभव करता है।

दूसरा सम्बोधन है–हे भूतनाथ! भूत का मतलब है जीव। जो अपने आप मे सभूत है, जिसका कभी निर्माण नहीं हुआ है और जो भूत अतीत से, अनादिकाल से और सदा रहने वाला है। आचाराग सूत्र मे कई जगह जीव के लिए "भूयाणं[1]" शब्द का प्रयोग हुआ है। भूतनाथ याने समस्त जीवराशि के नाथ। जिनके बिना सब अनाथ।

---

१ (क) आचाराग श्रुतस्कंध १, अध्य १, उद्दे ६, सु १२२

(ख) " १ अध्य ४ उद्दे २, सु ४५४

(ग) " १ अध्य ६ उद्दे ५ सु ६८३ ६८४

भुवि का मतलव होता है पृथ्वी। हम रहते हैं पृथ्वी पर और परमात्मा है सिद्धक्षेत्र मे। सिद्ध कोई स्थान नही है सिद्ध स्थिति है। इस सिद्ध स्थिति को उपलब्ध करनेवाले जहाँ स्थिर हो गए वह क्षेत्र सिद्ध क्षेत्र है, जो इस पृथ्वी से सात राजुलोक दूर है। हमारी शक्ति नहीं कि इतने दूर रहे हुए स्वरूप को हम भीतर ला सके। सिद्धशिला मे रहे हुए सिद्ध भगवन्त को हम प्रतिदिन "नमो सिद्धाण" कहकर नमस्कार करते हैं। क्या हमारे नमस्कार उन तक पहुँचते हैं? "अरिहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि" कहकर हम सिद्ध की शरण स्वीकार करते हैं। कहाँ हैं वे सिद्ध जिनकी शरण को हम स्वीकार करते हैं? यहाँ से जो सात राजु दूर हैं। जो न कभी हमे प्रत्यक्ष होते हैं। जिनसे न तो कभी मिलन होता है। जिनके साथ न कोई वार्तालाप होता है, न कोई सगोष्ठी होती है, लेकिन फिर भी हम हमेशा कहते चले जा रहे हैं कि सिद्ध की शरण मै स्वीकार करता हूँ। भुवि शब्द रखकर आचार्यश्री आत्मा का और परमात्मा का वाह्य Difference वता रहे हैं, लेकिन आगे चलकर ये वाह्य Difference की छोरो को तोड़ रहे हैं।

भेद-रेखाओ को तोड़ने के लिए महत्वपूर्ण शब्द है "भवत तुल्या भवन्ति"। इसमे "भवत तुल्या भवन्ति" का मतलव है आपके ही तुल्य–समान (प्रभुता को) प्राप्त करते हैं। इसमें वहुत वड़ी वात कह दी। आत्मा के चरम विकास का अभियान इस पंक्ति मे निहित है। स्वरूप के मिलन या दर्शन की ओर प्रयत्नशील साधक को उसी की उपलब्धि की आनन्दमयी अनुभूति एक वहुत वडी सफलता है।

मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि महावीर ने कहा–यहाँ किसी की Monopoly (एकाधिकार) नही है। यह स्थिति सर्वाधिकार की स्थिति है। इसे कोई भी उपलब्ध कर सकता है। आगम में इस स्थिति के २० कारण वताये हैं।

अरिहत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-वहुस्सुए-तवस्सीसु।
वच्छलयाय तेसि, अभिक्ख-णाणोवओगे य॥ १ ॥
दसण-विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारे।
खणलव-तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य॥२॥
अपुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥३॥

१ अरिहत।

२ सिद्ध।

३ प्रवचन-श्रुतज्ञान।

४ गुरु-धर्मोपदेशक/आचार्य।

५ स्थविर अर्थात् साठ वर्ष की उम्रवाले जातिस्थविर, समवायागादि के ज्ञाता श्रुत-स्थविर और वीस वर्ष की दीक्षा वाले पर्याय-स्थविर, यह तीन प्रकार के स्थविर साधु।

६ बहुश्रुत–दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रुत के ज्ञाता/उपाध्याय।

७ तपस्वी-उत्कृष्ट तप करने वाले मुनि।

इन सातो के प्रति वत्सलता धारण करना अर्थात् इनका यथोचित सत्कार-सम्मान करना, गुणोत्कीर्तन करना।

८ बारबार ज्ञान–अगादि श्रुतों का उपयोग करना।

९ दर्शन–सम्यक्त्व की विशुद्धता।

१० ज्ञानाधिक का विनय करना।

११ छह आवश्यक करना अर्थात् चारित्रपद का आराधन।

१२ उत्तरगुणो और मूलगुणो का निरतिचार पालन करना।

१३ क्षणलव अर्थात् क्षण–एक लव प्रमाण काल मे भी सवेग, भावना एव ध्यान का सेवन करना।

१४ तप करना।

१५ त्याग करना अर्थात् दानादि धर्म का पालन करना।

१६ नया-नया सूत्रार्थ का ज्ञान ग्रहण करना।

१७ समाधि–गुरु आदि चतुर्विध सघ को साता उपजाना।

१८ वैयावृत्य करना।

१९ श्रुत की भक्ति करना और

२० प्रवचन/शासन की प्रभावना करना।

इसी को तत्त्वार्थ सूत्र मे १६ कारणो मे निहित कर दिया गया है।

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सघसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत-प्रवचनभक्तिराव-श्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य।"

–तत्त्वार्थसूत्र–अ ६, सू २३

१ दर्शन विशुद्धि का अर्थ है वीतराग के कहे हुए तत्त्वो पर निर्मल और दृढ़ रुचि।

२ ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति योग्य रीति से बहुमान रखना विनयसपन्नता है।

३ अहिसा, सत्यादि मूलगुण रूप व्रत हैं और इन व्रतो के पालन में उपयोगी ऐसे जो अभिग्रह आदि दूसरे नियम है वे शील हैं, इन दोनों के पालन में कुछ भी प्रमाद न करना यही शीलव्रतानतिचार है।

४ तत्त्वविषयक ज्ञान में सदा जागरित रहना–यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

५ सासारिक भोग जो वास्तव मे सुख के बदले दु'ख के ही साधन बनते हैं, उनसे डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच मे न पडना, अभीक्ष्ण सवेग है।

६ थोडी भी शक्ति को बिना छिपाये आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान आदि दानो को विवेकपूर्ण देना, यथाशक्ति त्याग है।

७ कुछ भी शक्ति छिपाए बिना विवेकपूर्वक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास करना–यह यथाशक्ति तप है।

८ चतुर्विध सघ और विशेषकर साधुओ को समाधि पहुँचाना अर्थात् वैसा करना जिससे कि वे स्वस्थ रहें–सघसाधुसमाधिकरण है।

९ कोई भी गुणी यदि कठिनाई मे आ पडे, उस समय योग्य रीति से उसकी कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न ही वैयावृत्यकरण है।

१० अरिहत भक्ति।

११ आचार्य भक्ति।

१२ बहुश्रुतभक्ति।

१३ प्रवचन भक्ति।

१४ सामायिक आदि षड् आवश्यको के अनुष्ठान को भाव से न छोडना-आवश्यकापरिहाणि है।

१५ अभिमान छोडकर ज्ञानादि मोक्ष मार्ग को जीवन मे उतारना तथा दूसरो को उसका उपदेश देकर प्रभाव बढ़ाना–मोक्षमार्ग-प्रभावना है'

१६ जैसे बछडे पर गाय स्नेह रखती है, वैसे ही साधर्मियो पर निष्काम स्नेह रखना–प्रवचनवात्सल्य कहलाता है।

इस प्रकार परमात्म स्वरूप हम पा सकते हैं अर्थात् हम स्वय परमात्मा हो सकते हैं। न कारणो मे से प्रथम और द्वितीय कारण को भक्तामर स्तोत्र मे और विशेषरूप से इस ग़ोक मे महत्व देते हुए कहा है–"**भूतै गुणै भवन्तम् अभिष्टुवन्त** "। इन शब्दो की ाख्या इस तरह से होती है। **भूत** शब्द का अर्थ होता है विद्यमान। यह **गुण** शब्द का ाशेषण होता है। **भवन्तम्** अर्थात् आपकी। **अभिष्टुवन्त** का अर्थ है स्तुति करनेवाला। झ मे विद्यमान गुणो से तेरी स्तुति करने वाला तुझ समान हो जाता है।

भूत शब्द का आगम देशीय प्रज्ञापित अर्थ है जीव। जीव स्वय के गुणो से तुम्हारा ाभिष्टुवान बन जाता है। अभिष्टुवान शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ ष्टु धातु को अभि" उपसर्ग लगकर यह शब्द बना अभिष्टु। इसमे वान् प्रत्यय लगने पर अभिष्टुवान् ब्द वना, जिसका बहुवचन होता है–अभिष्टुवन्त । सदा तेरे समीप रहकर तेरी स्तुति ात्सल्य) करने वाला तुझ स्वरूप को प्राप्त करले तो इसमें **न अति अद्भुत** न कोई बड़ा ाश्चर्य है। क्योंकि, आत्मा का वास्तविक स्वरूप परमात्म-स्वरूप है। यह आत्मा की

अपनी महज स्थिति है। परमात्मा के प्रति की जानेवाली स्तुति, भक्ति या वात्सल्य आत्मा को परस्वरूप वैभाविक स्थिति से मुक्त कर निज-सहज आनन्दमय स्थिति का प्रथम वोध कराती है और अन्त मे आत्मा तत्स्वरूपमय हो जाती है।

अत यह कोई विशेष आश्चर्य नही। फिर भी यदि सामान्य अवोध इसे आश्चर्य माने भी तो इससे वड़ा ससार का कोई आश्चर्य भी नही हे कि जिनकी हम भक्ति करते हैं, जिनको हम नमस्कार करते हैं वह हम ही हैं। हम से वह अलग नही है और हम उससे अलग नहीं हैं।

इस श्लोक मे भकार शव्द की अभिव्यजना वडी रोचक और रहस्यभरी है। इसमे कुल ११ "भ" का प्रयोग हुआ है। जो स्तोत्र के विशेष सम्वन्ध से सन्दर्भित है। भकार की रहस्य भरी कड़ी इस प्रकार है–

१	भक्त	–	भक्तामर स्तोत्र का प्रारम्भ,
२	भगवान	–	भक्त जिससे सम्वन्ध वाधता है,
३	भक्ति	–	भक्त और भगवान को जोड़नेवाली,
४	भन्ते!	–	भगवान से जुड़ जाने पर भक्त द्वारा भगवान को किया जानेवाला सवोधन है। जिमका अर्थ सर्व भयो का या भवो का अत करनेवाले भगवान्।
५	भाव-प्रभाव	–	भाव भक्त के हों तो प्रभाव भगवान का हो सकता है।
६	भेद-विज्ञान	–	एक ऐसा ज्ञान जिसमे देह और आत्मा की भिन्नता की अनुभूति प्रकट होती है। भक्तामर स्तोत्र में इसे सिद्ध करने की क्षमता है।
७	भाषाचरिम	–	स्तोत्र की सम्पूर्ण सार्थकना है। जिसके वाद कुछ कहने को वाकी नही रहता।
८	भाव चरिम	–	हमारे भावों का अर्घ्य स्वीकार करनेवाले ऐसे आराध्य। जिसके वाद हम अपने भावों की अजलि का कहीं अभिषेक नहीं करते हैं, या ऐसा कहो जिसके वाद दूसरा आराध्य अव हो नहीं सकता है।
९	भूतनाथ	–	इस शव्द के द्वारा हम से अतिरिक्त अन्य जीव सृष्टि के साथ भी परमात्मा का सम्वन्ध स्थापित होता है।
१०	भद्र	–	भक्ति करने पर भक्त की प्रकृति भद्र याने सरल होती है। भद्र याने कुशल रहना है।
११	भुज्जो-भुज्जे	–	इसका अर्थ है वारवार। ऐसे परमात्मा को भवान्तर में मिलने के लिए प्रयुक्त शास्त्रीय शव्द।

आत्मा-परमात्मा की अभेद स्थिति की उपलब्धि का क्रम आगे के श्लोको से सयोजित होगा। जो हमारा अपना निज स्वरूप है फिर भी हमसे अगम्य है। हम उससे अनभिज्ञ या अनजान हैं, आइये। हम श्लोक ११ के द्वारा उस स्वरूप के "दर्शन" करेंगे। अनजान को जानेगे और अनभिज्ञ को पाएगे।

■

अनुभूतिधारा की अखड श्रेणी मे प्रवेश पाने पर परमानन्द अवस्था का अनुभव होता है। परमात्मा के साथ के अभेद बधन ने देह के बधन का भेद प्रकट किया। ससार के सर्व बधनो की प्रियता टूट चुकी। परम आनन्द के दर्शन हुए। इस दर्शन में प्रसन्नता मूलक सारी अनुभूतियाँ जो आज तक अनछुयी थी वह एक रूप हो गई, प्रकट हो गई।

जजीरो से जकड़ी हुई सम्पूर्ण दैहिक अवस्थाओं से सर्वथा पर होकर परमात्मा के दर्शन में लीन आचार्यश्री को जो उपलब्धि हो रही थी उसे पाने के लिए हमें आचार्यश्री के साथ मानसिक अभेद करना होगा और उसके द्वारा हम हमारे भीतर रहे हुए उस अद्भुत परमात्म स्वरूप के दर्शन करेंगे। इस दर्शन से आचार्यश्री की धारा प्रवाह निरन्तरता हमे उस प्रवाह मे दरायेगी जहाँ आचार्यश्री की अपूर्व वाचा प्रकट हुई–

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीय,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ।
पीत्वा पय शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धो ,
क्षार जल जलनिधे रसितु क इच्छेत् ? ॥११॥

अनिमेषविलोकनीयम्	– बिना पलक झुकाए हुए देखने योग्य अर्थात टकटकी लगाकर दर्शन करने योग्य (ऐसे)
भवन्तम्	– आपको
दृष्ट्वा	– देख करके
जनस्य	– मनुष्य का
चक्षु	– नेत्र
अन्यत्र	– और कही पर
तोषम्	– सन्तोष को, परितोष को
न	– नही
उपयाति	– प्राप्त करता है, पाता है
दुग्धसिन्धो	– क्षीर सागर के
शशिकरद्युति	– चन्द्रमा की किरण के समान कांतिवाली शुभ्र
पय	– जल, क्षीर, दुग्ध के

पीत्वा	– पीकर
क	– कौन (पुरुष)
जलनिधे	– (लवण) समुद्र के
क्षारम्	– खारे
जलम्	– पानी को
रसितुम्	– चखने के लिए
इच्छेत्	– इच्छा करेगा

अनिमेषविलोकनीयम् शब्द बड़ा Romantic (प्रेमास्पद) है। निमेष अर्थात् ऑख की पलके। अनिमेष अर्थात् पलक झपके बिना। विलोकनीय अर्थात् दर्शनीय, देखने योग्य। यहॉ एक ऐसे व्यक्तित्व से हमारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जिनको पहले शायद कभी नही देखा। और अब जब कभी देख लिया तो फिर पलक झपकी ही नही जाती है। कितना रहस्य भरा है। ऐसे तो भारतीय सस्कृति की प्रत्येक प्रेम गाथाऍ इन शब्दों को बड़ी भावुकता के साथ चरितार्थ करती है। प्रेम की सफल अभिव्यक्ति की चरम-सीमा इन्ही शब्दो मे प्रदर्शित होती है। दिखने वाला और देखने वाला दोनो के प्रत्यक्षीकरण की वास्तविकता को यह प्रकट करता है। समस्त सासारिक प्रेम सम्बन्धो से ऊपर उठे हुए प्रत्येक भक्त कवि ने इस महत्व को उद्घोषित किया है। जैसे एक जगह कबीर कहते हैं–

"नैनन की करी कोठरि, पुतलि पलग बिछाय।
पलकन की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥"

भक्ति की यह चरम सीमा हमारे इस निज एकान्त साधना मे एक कोलाहल उत्पन्न करती है कि हम ही जिनको अनिमेष पलको से देखते रहे, वे क्या करते हैं ? जो दिखते हैं वे देखते हैं या नही ? उनके अनन्त-आत्मदर्शन मे हम कहॉ छिपे हैं ? दर्शनावरणीय कर्म मे छिपा हमारा निज स्वरूप हम मे ये प्रश्न उठाता है कि–

१ हम उनको देखे या वे हमे देखे ?

२ हम उनके दर्शन करें या उनके अनन्त दर्शन मे हम समाहित हो जाय, जिसमे हमारी अनन्त अपूर्व अनुभूति प्रकट हो जाय ?

प्रस्तुत श्लोक भेद का अभेद कराता है। भेद मे प्रश्न होता है, अभेद होने पर यह सारा भेद मिट जाता है। परम और हम भिन्न नही अभिन्न हैं। परमात्मा से विभक्त हैं तब तक भिन्न है। भक्त हो जाने पर अभिन्न हैं।

भक्ति की प्रारभिकता मे (अभेद से पूर्व) दोनों का एक दूसरे को देखना भी प्रिय-दर्शन है। एक भक्त ने दर्शन की इस विशिष्ट शैली को प्रस्तुत करते हुए बडा रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक बार कुछ यात्री किसी विशिष्ट महापुरुष के दर्शन हेतु यात्रा की योजना बना रहे थे। यात्रियो के नामो का लेखन हो रहा था। एक अन्धा भी अपना नाम

लिखाने आया। कुछ तथाकथित भक्तो ने उसका मजाक किया– "सूरदास! तुम्हें दिखता तो नहीं है, तुम क्यो चल रहे हो?"

प्रश्न को सुनकर उस अन्धे ने बड़ा मधुर और दार्शनिक उत्तर प्रस्तुत किया। उसने कहा–

"मित्र! मै उन्हें देखूँ या न देखूँ पर वे तो मुझे देखेगे न!"

महापुरुष और अन्य पुरुष में यही तो अन्तर है। अन्य पुरुष हमारे देखने पर भी देखा-अनदेखा करते हैं। परम पुरुष या महापुरुष वही है, हम उन्हें देखे या न देखे वे हमें अवश्य देखते हैं। वे अपनी अनन्त कृपादृष्टि से हमे सीचते हैं। उनका हमारी ओर देखना ही वास्तविक दर्शन है। मै इसी दर्शन के लिए तुम्हारे साथ सयुक्त हो रहा हूँ।

गुजरात के एक भक्त कवि ने दर्शन की विशिष्ट परिकल्पना प्रस्तुत की है कि–

एक वार एक भक्त महापुरुष से दर्शन देने की प्रार्थना कर रहा था–

"आखनी सामे आख तो माड़ो!
अमृत नी रसधार झरे छे,
आवो-आवो पासे आवो!
तमने जोई आख ठरे छे।"

भक्त की अत्यन्त मनुहार स्वीकार करते हुए परम स्वरूप वहाँ प्रकट होते हैं। दर्शन करने के लिए आया हुआ भक्त उन्हें देखकर आँखें वद कर देता है। आप कैसे दर्शन करते हो, आँख बन्द कर या खोलकर? अक्सर दर्शन करते समय हम अपनी आँखों को वन्द कर लेते हैं। ऐसा क्यो होता है? आचार्यश्री जिन्हें 'अनिमेष विलोकनीय' कहते हैं उन्हें देखकर हम आँखें क्यो वन्द कर लेते हैं, कभी नहीं सोचा क्या आपने?

परम स्वरूप के इस प्रश्न का भक्त के द्वारा दिया उत्तर प्रत्येक भक्त का उत्तर है। उसने कहा–

भन्ते! तेरी अनन्त आत्मिक अनुभूति के दर्शन कर इन चर्मचक्षुओं से तेरी अनन्त-विभूति को झेलकर मै इसे अनन्त, आत्म-प्रदेशों मे सम्पूर्णत आत्मसात् कर लेता हूँ। दर्शन मे आपका रूप और आपका वात्सल्य इन दो विशिष्ट शक्तियो का परिचय होता है। मेरी आँखे वद होने का मतलब यह नही कि मै आपका रूप-स्वरूप झेल नहीं सका। परन्तु हे परम स्वरूप! आपका वात्सल्य इतना अधिक है जिसे मैं अपने में समा नहीं सका। अत सहज ही मेरी आँखे वद हो गई।

कवि ने कहा है कि–

'एक न समझे के तमाम रूप [illegible] नहीं,
[illegible] है [illegible] नहीं।

तमने जोया पछीथी आ दशा कायम रही,

कोई पण वातावरणमा मारू मन परोवायु नही ॥''

योगिराज आनन्दघनजी ने चर्म-नयन और दिव्यनयन (आत्मचक्षु) का भेद प्रस्तुत कर दर्शन (मार्ग) की महिमा बतायी है–

चरम नयन करी मारग जोवता,
भूल्यो सकल ससार रे,
जे नयणे करी मारग जोइए,
नयन ते दिव्य विचार रे

चर्म चक्षुओ से देखना, देखना है और दिव्य नयनो से देखना दर्शन है।

जिसने परमात्मा को नही देखा उसने कुछ नही देखा,

जिसने परमात्मा के दर्शन किये उसने कुछ देखा और,

जिसने परमात्मा को आँखो मे समाया उसने सब कुछ देखा।

उसके लिए अब ससार मे कुछ भी दर्शनीय नही है। यहॉ सारी तुलनाये मिट जाती हैं। सारी उपमाऍ भी समाप्त हो जाती हैं। वह अतुलनीय, अनुपम और अपूर्व आत्मसात् हो जाता है।

एक जगह आनन्दघन जी ने यह भी कहा है–

''सामान्ये करी दरिसण दोहिलु निर्णय सकल विशेष

मद मे घेर्‌यो रे अधो केम करे, रवि शशि रूप विलेख''

सामान्य बुद्धि से आपके दर्शन कैसे हो सकते हैं क्योंकि कोई व्यक्ति अधा हो और उसे मदिरा पिलाकर सूर्य चन्द्र का वर्णन करने के लिए कहने पर क्या हो सकता है ? इसी प्रकार ज्ञानावरणीय से आवृत व्यक्ति यदि मोहमदिरा पी ले और उसे आपका वर्णन करने का कहा जाय तो क्या हो सकता है ?

ससार मे हम जब किसी भी सुन्दर व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ को देखते हैं तब उससे पूर्व देखे हुए व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ से उसकी तुलना करते हैं। इससे यह अच्छा या बुरा है, अधिक या कम है। सामान्यत· तर और तम के विभाग बनते जाते हैं और हमारी अनादिकालीन वासनाये बदलती स्थिति या परिवर्तित विविधता में अपनत्व स्थापित करती हैं। परिणामत प्रेम के दर्शन के पात्र और पदार्थ परिस्थिति के साथ बदलते जाते हैं।

हम कभी तो सुन्दरता कपड़ो मे देखते हैं तो कभी Make-up में, कभी कमरो के Furnitures मे तो कभी सुन्दर भोजन मे देखते रहते हैं। परन्तु, हमने कभी भावो की सुन्दरता नहीं देखी। जिसे देखने के बाद कुछ दर्शनीय नही रहता है।

आचार्यश्री इन सब भक्त कवियों से भी ऊपर उठकर, इन शब्दों का प्रयोग कर हमें अनन्त निज स्वरूप की ओर सन्दर्भित करते हैं। सम्पूर्ण विश्वास Guarantee के साथ वे हमारी समस्त चेतना को अपने परम प्रिय परमात्मा के निर्मल प्रेम से ऊर्जान्वित करते हैं।

पलकों मे आचार्यश्री का आशय कोरी क्रियात्मक सवेदनाओ की अतृप्ति नहीं परतु सम्पूर्ण भावात्मक सयोजना का चिर सतोष है।

अनिमेष नयनों मे देखते रहना, हमारे जीवन में कई बार गुजरा होता है लेकिन वह अतृप्ति और असतोष की अमिटता है। यहाँ परम तृप्ति और पूर्ण सतोष की सत्यान्वितता है। और, इसीलिए आगे कहा है "भवन्तम् दृष्ट्वा जनस्य चक्षु अन्यत्र तोष न उपयाति।" अन्यत्र मे क्या अर्थ है ? कई बार हम अपने सासारिक विधानो से इसका अर्थ लगाते हैं, अब दूसरी जगह देखने योग्य नहीं है। दूसरा क्या है ? पराया क्या है ? किस Illusion (भ्रम) ने हमें घेर रखा है जिसे अब हमसे नही देखा जाता है। आचार्यश्री ने इस पंक्ति में गूढ़ रहस्य भर दिया है। वे कहते हैं जिन्हें तू अनिमेष देख रहा है वह दूसरा कोई नही तू स्वय है। परम ज्योतिर्मय अनन्त ज्ञानदर्शन स्वरूप है। आनन्द से भरपूर अप्रतिम है। आचाराग मे कहा है–

"जे अणण्णदसी से अणण्णारामे
जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी।[1]"

जिस अनन्य (आत्मा) के तू दर्शन कर रहा है उसी अनन्य (आत्मा) में तू रमण करता है (प्रसन्न रहता है) और जिस अनन्य (आत्मा) मे तू प्रसन्न रहता है उसी अनन्य (आत्मा) के तू दर्शन कर रहा है। अर्थात् जिसे देख रहा है वह तू स्वय है।

अत तेरे अतिरिक्त जो भी कुछ है वह सर्व अन्यत्र है, अविलोकनीय है, अदर्शनीय है। इसे अभी तक नहीं देख सकने के कारण ससार में अतृप्तिमय अनेक दर्शन करते रहे। प्रतिपल प्रेम पात्र परिवर्तित होते रहे। अनन्त काल्पनिक इस धोखे में सदा पर्दे के पीछे छिपा रहा। सदा रहस्यमय रहा। इससे बड़ा धोखा ससार मे और क्या हो सकता है ? हम स्वय अपने से ही छले जा रहे थे।

हे परमात्मा ! आज तुम्हें देखकर ये सारे रहस्य खुल गये। जो अव्यक्त था व्यक्त हो गया। जो [illegible] के गर्भ मे छिपा था प्रकट हो गया। जो अतृप्त था सतुष्ट हो गया। अब कौन [illegible] है जो अन्यत्र देखेगा ? अन्य से प्रेम करेगा ? चन्द्रमा की शुभ्र किरणों की [illegible] के समान [illegible] समुद्र का मधुर जल पी चुकने के पश्चात् लवण समुद्र के खारे पानी

---

१ आचाराग सूत्र [illegible] १, २, ६, उद्दे ५, सु ३४९

११. निर्माण

कारागृह के दरवाजे के पास सभा खचाखच भरी हुई है। सभी को कौतूहल है, सभी को आश्चर्य है। परन्तु, विश्वास था महाकवि को। उनका मानना था कि परम की कृपा, भक्त की अस्मिता का सौन्दर्य है। अस्मिता का सौन्दर्य किसी व्यक्ति का सौन्दर्य नहीं है। अस्मिता की आवाज किसी व्यक्ति की आवाज नहीं है। अस्मिता का ज्ञान किसी व्यक्ति का ज्ञान नहीं है। अस्मिता का आनन्द किसी व्यक्ति का आनन्द नहीं है। इस आनन्द की चरम सीमा ही भक्ति है।

कैदखाना परमात्मा का मिलन-स्थान है, मानतुंगाचार्य की आत्मा परमात्मा के मिलन का मंदिर है, आचार्यश्री का हृदय परमात्मा के विराजने का सिंहासन है, निर्मित होता हुआ स्तोत्र परमात्म-मिलन का मंत्र है।

टूटती बेड़ियों में झलकती विजय आचार्यश्री के सत्त्व की विजय है, आचार्य के परमात्मा की विजय है और आचार्य के परमात्मा के शासन एवं धर्म की विजय है।

परमात्मा के शुभ दर्शनों से आचार्यश्री का ध्यान परमात्मा की पवित्रमयी देहदृष्टि पर गई। उन पुनीत पावन पुण्यमय परमाणुओं पर गई जो पुद्‌गलात्मक तो थे फिर भी परम औदारिक होने से अत्यन्त पवित्र थे। इस देह का ऐसा अद्‌भुत यह निर्माण था कि जो अद्वितीय, अनुपम और अतुलनीय था। इसी देह में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द स्वरूप वीतराग की परम आत्मा विराज रही थी। इस देह-निर्माण का ऐसा क्या रहस्य है जो इस अनेक औदारिक शरीरधारियों को प्राप्त न हो सका?

आपके चेतना-आगार में भी यदि यह प्रश्न उभरता हो तो चलिये अब आचार्यश्री से रहस्य का उद्‌घाटन करवाते–

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक – ललामभूत!
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

त्रिभुवनैक ललामभूत! – हे तीन लोक के अनुपम अलंकार स्वरूप! (परमात्मा)

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिः – जिन (जिनका) हे नाथ! [illegible]
[illegible]

जो ममत्व में से मति का त्याग करता है वह ममत्व का त्याग करता है। परमात्मा इस कथन का सफल चरितार्थ प्रस्तुत करते हैं। राग की रुचियों में जो शान्त हो जाता है या ऐसा कहें कि राग की रुचि जिनकी समाप्त हो जाती है, वे ही तो परमात्मा हैं।

आचार्यश्री यहाँ एक विशिष्टता और विलक्षणता भी प्रस्तुत करते हैं। वे मात्र राग और उसकी रुचि को समाप्त करने की बात पर ही नहीं रुकते परन्तु इसे साधना में लाकर प्रयोग से सफल कर दिखाते हैं।

प्रत्येक आत्माओ की देह का निर्माण अपने-अपने कर्मों के अनुसार होता है। इस प्रकार पूर्वजन्म में संचित और निर्मित कर्मों के अनुसार जीव जन्म धारण करता है। सामान्य केवली और तीर्थंकरों के केवलज्ञान में या वीतरागत्व में कोई अन्तर नहीं होता है, परन्तु तीर्थंकर के च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण के पाच विशेष अवसर कल्याणक माने जाते हैं। ये आत्माएं परमात्म भव के पूर्व तीसरे जन्म में ही "सवि जीव करूं शासनरसी" की भावना से जगत के सकल जीवों के मोक्ष हो जाने की भावना और पूर्वकथित २० विशेष कारणों की आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का निकाचन करते हैं इस तीर्थंकर नामकर्म के उदय से ये अनुपम देहराशि और उत्कृष्ट दैवीय वैभव को प्राप्त करते हैं।

इस श्लोक की सर्वोपरिता यह है कि चेतन और पुद्गल का सामजस्य ही संसार में जीवन है। जीवन का यह रहस्य अनादि अनन्त है। परम वीतराग प्रभु का जीवन भी इसी प्रकार चेतन-पुद्गल का मेल-जोल है फिर भी अन्य सर्व सामान्य प्राणियों से इनमें जो विशिष्टता है उसे यह गाथा स्पष्ट करती है। आत्मा के राग भाव या विराग भाव का असर देह-निर्माण के समय में देह पर होता है। तत्सम्बन्धी पुद्गल-परमाणुओं का क्रमिक चयन होता है वीतराग परमात्मा के राग की रुचि सर्वथा शान्त-समाप्त हुई रहती है अत उनके देह निर्माण मे नियोजित परमाणु भी वैसे ही होते हैं। यही कारण है कि वीतरागता आत्मा सम्बन्धी तत्त्व होने पर भी दैहिक आभा भी इसे प्रकट करने में अछूती नहीं रहती है।

आचार्यश्री इस अद्भुत रहस्य को प्रकट कर आगे कहते हैं कि वे परमाणु ही सृष्टि में इतने थे जिनसे आपका निर्माण हो गया तो अब दूसरा ऐसा अद्भुत न तो निर्मित होता है, न तो दर्शित होता है।

वीतरागत्व के कारण वीतरागी का अनुपम सौन्दर्य कितना आकर्षक है इसे एक भक्त कवि ने अपने शब्दों में कहा है–

> तू सुन्दर है पर तू न कभी देता प्रति उत्तर ममता का
> तेरी निष्ठुर सुन्दरता से मेरे अरमान बड़ी सुन्दर
> तेरी मुस्कान बड़ी सुन्दर
> तेरी सादगी बड़ी सुन्दर

के ज्योतिर्मय चक्रों का असर हमारे सूक्ष्म मन पर और उसका असर जीवन पर होता है। ग्रहसृष्टि और आत्मिक चेतना के बीच भी गहरा सम्बन्ध बना रहता है। आज का विज्ञान भी शुभ-अशुभ घड़ियों के गणित को मानता है। R C A Sound System के अनुसंधान विभाग के अनुसार शुभ घड़ी में Negative isotops और अशुभ घड़ी में Positive isotops बढ़ते हैं। Negative isotops मानव के मन में आनंद, उल्लास और दिव्यशक्ति भरते हैं तथा Positive isotops मानव मन को निराशाजनक उत्तेजनाओं से भरते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की विद्युत तरंगें होती हैं— अल्फा, बीटा, डेटा, थेटा आदि आदि। जब हम में अल्फा तरंगें बढ़ती हैं तब हम आनन्द से भर जाते हैं। हमारे सारे अवसाद समाप्त हो जाते हैं, कठिनाई दूर हो जाती हैं, जब बेटा तरंगे बढ़ती हैं तब हम अवसाद से भर जाते हैं, हम में उत्तेजनाएं उभरने लगती हैं।

इस प्रकार मस्तिष्कीय विद्युत-तरंगों के द्वारा आदमी कभी सुख का अनुभव करता है, और कभी दुःख का अनुभव करता है।

प्रश्न होता है कि हम आनन्द को उपलब्ध कैसे करें? अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे हो सकता है?

महापुरुषों के मस्तिष्क में निरंतर ये अल्फा तरंगे प्रवाहित होती रहती हैं परिणामत वे स्वयं आनंदित रहते हैं और उनके पास आने वाले का अवसाद भी आनन्द में परिवर्तित हो जाता है।

महापुरुष काया का उत्सर्ग कर देते हैं। उस समय ध्यान देह पर्याय से सम्पूर्णत हट जाता है। समग्र चेतना आनन्द से भर जाती है। उस समय वाणी शांत, श्वास शांत, मन शांत समग्रतः काय-तंत्र शांत हो जाता है। विश्राम की इस सघन स्थिति में मस्तिष्क में अल्फा तरंगों का संवर्धन होता है। वे तरंगें साधक को आनन्द विभोर कर देती हैं।

कोई भी व्यक्ति जब महापुरुषों के निकट बैठता है तब उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। महापुरुष क्या देते हैं उस समय? कुछ भी नहीं, फिर आनन्द की अनुभूति कैसे होती है? इसका सहज और वैज्ञानिक समाधान यह है कि जिस महापुरुष के मस्तिष्क में अल्फा तरंगों की मात्रा अधिक होती है उसके आसपास बैठनेवालों में, वे तरंगे संक्रमित होती हैं, flow होती हैं और वे आनन्द की अनुभूति कराती हैं। आज के वैज्ञानिक आध्यात्मिक तथ्यों की व्याख्या जिस प्रकार कर रहे हैं, लगता है कि वैज्ञानिक जगत् [illegible] आत्मजगत् को उद्घाटित कर रहा है। Medical Institute of Technology Madras ने एक ऐसे उपकरण का निर्माण किया है जिससे मनुष्य के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों का रेकार्ड भी लिया जाता है और उन्हें संप्रेषित भी किया जाता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार स्थूल का सूक्ष्म पर और सूक्ष्म का स्थूल पर असर हुआ करता है। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल [illegible] चलता रहता है। जैसे-जैसे [illegible]

भूमिका का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे स्थूल और सूक्ष्म के सम्बन्धो का ज्ञान जागृत होता है। इस ज्ञान से दोनों का समन्वय और दोनो का भेद स्पष्ट झलकने लगता है लेकिन Conscience activity के बिना यह सभव नही है। इसलिए कहा है–

Stand up, power will come, glory will come, purity will come and everything that is excellent will come when the sleeping soul is arisen to do conscience activity

चेतना का विकास साधना का अभियान है। वीतराग की अपेक्षा वीतरागत्व कही अधिक सुन्दर है परतु बिना उस साधना के वीतरागत्व के दर्शन दुर्लभ हैं। अब हम देखें यह वीतरागत्व कितना Dynamic है। इसी बल पर वीतराग विश्व के आध्यात्मिक उत्थानचक्र को गतिमान रखते हैं। कट्टर शत्रु को भी अपनी गद्दी का आध्यात्मिक उत्तराधिकारी बनाते हैं। पतित को प्रेरणा देकर पावन करते हैं, थके हुए को गति देते हैं, सोये हुए को उठाते हैं, उठे हुए को चलाते हैं, चलते हुए को मंजिल पर पहुँचाते हैं।

इस प्रकार सुन्दर, प्रिय, नजाकत, राग की रुचियो से रहित, अत्यन्त पवित्र परमाणुओं से निर्मापित नयनहारि परमात्मा की देहपर्याय मे विशिष्ट दर्शनीय परम आभावान् मुखाकृति के दर्शन कर उस मनोहारिता को दर्शाते हुए कहते हैं—

वक्त्रं क्व ते सुर – नरोरग – नेत्रहारि,
नि:शेष– निर्जित– जगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलंक– मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम्॥१३॥

सुरनरोरगनेत्रहारि	–	देव, मनुष्य और भवनवासी नागकुमार जाति के देवेन्द्र (धरणेन्द्र) आदि के नेत्रो को हरण करनेवाला
नि:शेषनिर्जितजगत्त्रि-तयोपमानम्	–	सम्पूर्ण रूप से तीनों लोकों के उपमानो को जीतने वाला अर्थात् उपमा रहित।
ते	–	तुम्हारा
वक्त्रम्	–	मुख, आनन
क्व	–	कहां ? (और)
कलंकमलिनम्	–	काले-काले धब्बों से मलिन
निशाकरस्य	–	चन्द्रमा का
बिम्ब	–	मण्डल, बिम्ब
क्व	–	कहाँ,

यत्	–	जो (बिम्ब)
वासरे	–	दिन में
पाण्डुपलाशकल्पम्	–	जीर्ण-शीर्ण हुए टेसू (ढाक) के पत्र के समान फीका,
भवति	–	होता है।

यह गाथा परमात्मा की अनुपम विलक्षणता का अपूर्व उदाहरण है। विभिन्न उपमानों से परमात्मा को उपमित कर आनंदित होते हुए आचार्यश्री परमात्मा का मुख दर्शन कर अन्य कवियों की भाँति इसे चन्द्र से उपमित करते हुए अचानक अटक गये। विलोकनीय परमात्मा की कमनीय काया की आकर्षक, मनभावन मनोहारिता से मुग्ध हो गये। सौम्य, शीतल, शक्तिप्रेरक और आह्लादक वदन की आभा से प्रभावित हो गये।

उपमा के अनुसंधान में पाये गये व्योमविहारी सकलंक विधु के आंखों के सामने आते ही दिन में निस्तेज एवं फीके पड़े हुए, विवर्ण बने हुए पलाश के पत्रवत् बिम्ब की ओर जाता है। और, पुनः सदा सुधावर्षी, समुज्ज्वल, सदैव शीतल, निर्मल, सर्वदा हितकारी, सर्वोत्तम प्रकाशक, धरातलविहारी, निष्कलंक, ओजस्वी आत्मविधु के मुखचन्द्र के दर्शन होते हैं। यहां उपमान के ऊपर उपमेय को बताकर उन्हें श्रेष्ठ सिद्ध कर रहे हैं।

अतुलनीय की तुलना कैसे ? अनुपम को उपमा कौन सी ? परम वीतरागी चैतन्यघन जिसमें न तो कषाय की कालिमा है और न कर्मों का मालिन्य। ऐसे सर्वांगसुन्दर परमात्मा के विशिष्ट वदन के दर्शन कर सृष्टि पर उसका प्रभाव देखने हेतु दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं ऊर्ध्वलोक के देव-देवेन्द्रों, पृथ्वीलोक के नर-नरेन्द्रों और अधोलोक के भवनपति देवों को परमात्मा के मुखदर्शन से प्रसन्न और प्रभावित होते पाते हैं। इन सबके नयनों के प्रबल आकर्षण परमात्मा हैं।

आचार्यश्री ने इन सबके लिए "नेत्रहारि" शब्द का उपयोग किया है। जो प्रेम-भक्ति की परमोत्कर्षता का प्रमाण है। नेत्र का हरण कैसे होता है। क्या आंखों की चोरी होती है और हरण करने वाले परमात्मा हैं ?

ये सश्रितास्त्रिजगदीश्वर! नाथमेक,
कस्तान् निवारयति सचरतो यथेष्टम्॥१४॥

त्रिजगदीश्वर!	–	तीन लोको के स्वामी!
सपूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्रा.	–	पूर्णमासी के चन्द्र-मण्डल की कलाओ के सदृश समुज्ज्वल
तव गुणा	–	आप के गुण
त्रिभुवनम्	–	तीन लोको का
लङ्घयन्ति	–	उल्लघन करते हैं अर्थात् त्रिभुवन मे व्याप्त हैं।
ये	–	जो
एकम्	–	एक अर्थात् अद्वितीय
नाथम्	–	त्रिभुवन के स्वामी को
सश्रिता	–	आश्रय करके रहने वाले
यथेष्टम्	–	स्वेच्छानुसार अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार
सचरत	–	सम्पूर्ण लोक मे विचरण करने से
तान्	–	उनको
क	–	कौन (पुरुष)
निवारयति	–	निवारण कर सकता है अर्थात् रोक सकता है? कोई भी नही।

यह कैसा आश्चर्य, १३वे श्लोक मे जिसको स्पष्टत· अस्वीकार कर रहे थे–उसका यहा सहर्ष स्वीकार हो रहा है? सहज उभरते हुए इस आश्चर्य की यथार्थता यह है कि आचार्यश्री की इच्छा परमात्मा के मुख को चन्द्र के साथ उपमित करने की नही है, परंतु मुखदर्शन की इस विशिष्टता को वर्णित करने में अक्षम हो रहे हैं। बिना उपमा के इसे समझाना या दर्शाना दुरूह है और चन्द्रमा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपमान ठीक नहीं बैठ रहा है अत श्लोक १३ मे परमात्मा के गुणो के लिए सर्वकलाओं से विकसित एव विलसित पूर्णमासी चन्द्र को उपमान के रूप में पसन्द करते हैं। परमात्मा के सर्वलोक में व्याप्तत्व के सिद्धान्त को गुणों के द्वारा सिद्ध करते हैं। अनतगुण सम्पन्न परमात्मा के गुण यथेच्छ अप्रतिबध रूप से सपूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

इस श्लोक में परमात्मा का सार्वभौमत्व प्रकट करने के साथ-साथ इसमें सम्बन्ध प्रेरणा भी व्यक्त की है। यह पद्य परमात्मा की शरण के सर्वोच्च स्वीकार की सफल

अभिव्यक्ति है। जगत के सर्व जीव स्वेच्छा से व्यवहार करना चाहते हैं, परतु प्रत्येक जीव की इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती है। कार्य–कारण की विशेष शृखलाओं में आबद्ध आत्माए सर्वशक्तिसम्पन्न होने पर भी कर्मो से असमर्थ हैं। परतु, फिर भी परमात्मा की शरण ग्रहण करनेवाला अप्रतिबध हो जाता है। उसे सृष्टि के कर्म–कषायादि कोई भी विरुद्ध तत्त्व प्रतिबंधित नहीं कर पाते हैं। वे यथाशीघ्र अपने अन्तिम गन्तव्य मुक्तावस्था को उपलब्ध कर सकते हैं। इसे आचार्यश्री ने परमात्मा के गुणों से सिद्ध कर दिया। परमात्मा के गुणो ने परमात्मा की शरण ग्रहण की और फिर वे इस सृष्टि मे विचरने के लिये निकले। इस समय उन्हें यथेच्छ विचरण करते हुए कौन रोक सकता है?

ये एकं नाथ सश्रित–जिन्होने आप एक का ही आश्रय लिया है।

ता यथेष्ट सचरत –उनको यथेच्छ विचरण करते हुए।

क निवारयति–कौन रोक सकता है?

यह प्रश्न कर उन्होंने एक बहुत बड़ा समाधान प्रस्तुत किया कि परमात्मा के गुणो को कोई नही रोक सकता। अर्थात् वे इस सृष्टि में व्याप्त हैं। यथायोग्य भक्तात्मा इन गुणो को धारण करता है। तभी वह सच्चे अर्थ में परमात्मा की शरण ग्रहण करने मे सफल हो सकता है।

दर्शन से वे ही सफल हैं जो परिवर्तन पाते हैं। कहा, कौन सा और कैसा परिवर्तन आवश्यक है और यह कैसे हो सकता है ? उसे हम ध्यान के माध्यम से ''परिवर्तन'' विषय का विश्लेषण करेंगे, और हमारे हृदय का भी परिवर्तन करेंगे।

श्लो. १५ : १६

१२. परिवर्तन

परिस्थितियो का परिवर्तन सृष्टि का क्रम है परतु हृदय का परिवर्तन सृष्टि का सामजस्य है। परिस्थितियो का परिवर्तन प्रकृति का न्याय है। परन्तु हृदय का परिवर्तन प्रकृति का प्रकट होना है, विभाव से स्वभाव मे आना है। न्याय का चाहा-अनचाहा स्वीकार होता है परन्तु प्रकट चाह-अनचाह से ऊपर रहता है। विसगतियो से परिपूर्ण इस जीवन मे क्रम का विकास होता रहता है। सामजस्य सगति या विसंगति मे समानरूप से रहता है।

यहा हृदय परिवर्तन का मतलब वृत्ति और भावों का परिवर्तन है। वरना आजकल डाक्टर भी Surgery द्वारा Heart Change करते हैं। परतु यहाँ हमारी चेतना, भाव और वृत्तियो का परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन से वास्तव मे हृदय सजीव होता है, जीवत होता है, गतिवान होता है। यह पौद्‌गलिक या पार्थिव हृदय की बात नहीं है। परतु आत्मिक भावो के स्रावो का कथन है।

भक्ति वृत्ति परिवर्तन की शल्य चिकित्सा है। आचार्य श्री भक्तामर स्तोत्र द्वारा भक्ति का पथ प्रदान कर रहे हैं।

परमात्मा मे एकरूप होकर उनके सहज स्वाभाविक निर्विकार स्वरूप के दर्शन पा रहे हैं। परमात्मा के तेजोमय स्वरूप मे लीन उनके मुख से निकला–

चित्र किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥१५॥

(भगवन्)	–	(हे प्रभो)
यदि	–	अगर
ते	–	तुम्हारा
मन	–	मन
त्रिदशाङ्गनाभि	–	देवाङ्गनाओ के द्वारा अर्थात् देवलोक की अप्सराओ द्वारा
मनाक् अपि	–	किंचित भी, थोड़ा भी

विकारमार्गम्	–	बुरे भाव की ओर, विकार मार्ग की ओर अर्थात् वैभाविक परिणति की ओर
न नीतं	–	खीचकर नहीं लाया गया
अत्र किम् चित्रम्	–	तो इसमें आश्चर्य ही क्या है
कल्पान्तकाल	–	प्रलयकाल/निर्विकल्प अवस्था
चलिताचलेन	–	पर्वतों को चलायमान करनेवाला
मरुता	–	पवन/दूषित वातावरण
कदाचित्	–	कभी भी
चलितम्	–	चलायमान हो सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं)

हे महाप्रभु! कितना अद्भुत है आपका निर्विकार वीतराग स्वरूप। अकाट्य प्रबलतावाली वैषयिक अभिव्यक्तियाँ आपको विचलित नहीं कर पाती हैं क्योंकि आप विषयातीत हैं।

इस सृष्टि में ऐसे दो विरुद्ध तत्त्व हैं, जिनका कभी सामजस्य नहीं हो पाता। युगो बीत गये परतु ये लड़ते ही रहे हैं–एक रागभाव और दूसरा विरागभाव। रागी विरागी को विचलित करने के प्रयत्न करता है परन्तु जिसने आत्मा की सहज स्थिति का अनुभव कर लिया उसे रागी विचलित नहीं कर सकता है।

हमारे मन में एक प्रश्न हो सकता है, ऐसा क्या है जो वे विचलित नहीं हो सकते हैं ? इसका कारण आचार्यश्री ने इस श्लोक में अन्तिम पंक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया है।

कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ?

प्रश्न चिन्ह के साथ उत्तर की विलक्षणता यहा झलकती है। पद चार मे हमने कल्पात काल के उद्धत पवन के विषय में सोचा था, वहां कल्प की विभिन्न व्याख्याएँ आ चुकी हैं। कल्प के अन्त काल मे पवन उद्धत होता है। यहा लिखा है चलित होता है। उद्धत जो भी होगा, निश्चल नही रह सकता है, वह चलित होता है और इस चलायमान स्थिति मे वह जिसका भी स्पर्श करता है उसे भी विचलित करता है। सृष्टि में ऐसा कौनसा तत्त्व है जो इस स्थिति में विचलित न हो। यहाँ असामान्य पवन से मेरुपर्वत के शिखर का विचलित न होने का कहा है। जिसका संकेत है कि विकल्पों के द्वारा मन को विचलित करनेवाले विकारी पुद्गल आपके निर्विकार स्वरूप को कैसे कपायमान कर सकते हैं ?

विस्तार से परमात्मा को मेरुपर्वत की उपमा से विभूषित किया है।[१]

---

१ सुयगडंग सुत्तं, श्रुतस्कध १, अ ६, गाथा १० से १४

आगम मे आत्म-प्रदेशो के ऐजन (कपन) के बारे मे कहा है। बाह्य वातावरण का मानव के मन पर प्रभाव होता है तब द्रव्यमन भावमन को प्रभावित करता है। भावमन आत्म-प्रदेशो को कपित करता है और फिर कर्म का बन्धन होता है। इस प्रकार कषाय और योग के अनुबध से ही कर्म बन्धन होता है। वीतरागी परमात्मा पर बाह्य वातावरण का प्रभाव ही नही होता और न ही उनके आत्मप्रदेशो मे कपन होता है, तो फिर विकारी भावो का उत्पन्न होना और विचलित होना सभव ही कैसे हो सकता है ?

अब दूसरा प्रश्न है, निर्विकारी परमात्मा के लिये तो इस बात को स्वीकार कर लेवे, परतु इससे हमे क्या ? हम तो सतत विकारो से प्रभावित होते रहते हैं। आज विकारी वातावरण बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक वातावरण एक बम्ब-विस्फोट की भांति हमे भीतर से छिन्न-भिन्न कर रहा है। प्रति समय हम मे एक नयी सृष्टि की सरचना हो रही है। हमे ऐसे वीतराग का पूर्ण शुभत्व जानकर भी क्या लाभ ? यह प्रश्न ससार के समस्त रागियो का प्रश्न है और इसका उत्तर हमे भक्तामर स्तोत्र से पाना है। साथ मे मनोविज्ञान के सिद्धान्तो का भी निरीक्षण करना होगा, क्योंकि प्रत्येक विकारी भावो के कारण हमारी मानसिक अभिव्यक्तियाँ निहित हैं।

सामान्यत हमारे भीतर दो प्रणालिया काम कर रही हैं। एक है रासायनिक प्रणाली और दूसरी है विद्युत्–नियत्रण प्रणाली। ये दोनो प्रणालिया आदमी के आचार और व्यवहार का नियन्त्रण करती हैं। यदि रासायनिक प्रणाली को समझ लिया जाए तो जीवन का क्रम बदल सकता है। रासायनिक प्रणाली मे अन्त स्रावी ग्रन्थिया काम करती हैं। उनके स्राव रक्त मे मिलते हैं और आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं। इन स्रावो मे ध्यान की विद्युत् नियत्रण प्रणाली से परिवर्तन किया जा सकता है। उसके काम-क्रोधादि विकारो की उत्पत्ति के सूक्ष्म कारणो को हम नही जान सकते हैं, परन्तु इस स्थूल शरीर मे इन विकारो की उत्पत्ति का कारण तो खोज सकते हैं। यह निश्चित है कि किसी अन्त स्रावी ग्रन्थि का ऐसा स्राव रक्तगत हुआ है जिससे विकार उभरते हैं। परमात्मा के ध्यान के द्वारा अन्त स्रावी ग्रन्थियो के स्राव बदले जा सकते हैं और जब वे बदलते हैं तब आवेग समाप्त हो जाते हैं। रसायन बदलते हैं तो काम-क्रोधादि विकारो वाली आदते भक्ति, सवेग आदि मे बदल जाती हैं। अन्यथा आदत का बदलना असभव है।

इसी प्रकार विद्युत्-नियत्रण का परिवर्तन होता है। हमारे स्नायु सस्थान मे पर्याप्तमात्रा मे विद्युत् है। उसी विद्युत् के कारण हमारी सक्रियता बनी रहती है। उन विद्युत् के प्रकपनो को बदलने पर आदते बदल जाती हैं।

परमात्मा के ध्यान का सबसे बड़ा प्रभाव है कि इससे हमारी विद्युत् प्रणाली मे बहुत बडा परिवर्तन आ सकता है। उनके शान्त परमाणुओ का ध्यान करने से हमारे विद्युत् तन्त्र मे उभरती अशुद्ध तरगे शुद्धता मे तरगित हो जाती हैं।

इस बात को लेकर एक मनोवैज्ञानिक ने प्रयोग किया। उसने बिल्ली के मस्तिष्क को शान्त करने के लिए उसके सिर पर एक इलेक्ट्रोड लगाया और चूहे के मस्तिष्क को उत्तेजित करने के लिए उसके सिर पर भी इलेक्ट्रोड लगाया। उससे दोनों के मस्तिष्कीय विद्युत् मे परिवर्तन घटित हुआ। फलस्वरूप बिल्ली चूहे के सामने शान्त खड़ी हो गई और चूहा उस पर झपटने लगा, आक्रमण करने लगा। कितनी उल्टी बात। इस प्रकार आक्रमण के केन्द्र को बदलकर उसमे उपशमन लाया जा सकता है और उपशमन के केन्द्र को बदलकर उसमें आक्रामकता लाई जा सकती है। वीतरागी का ध्यान करने से आक्रामकता उपशमन में परिणमित होकर परिवर्तित हो जाती है।

इसी प्रकार शेर और खरगोश पर भी प्रयोग किया गया। वृत्तियो की अपेक्षा से शेर खरगोश बन गया और खरगोश शेर बन गया। शेर पर खरगोश आक्रमण करने लगा।

ये कल्पित कहानिया नहीं, प्रयुक्त प्रयोग हैं। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदमी को बदला जा सकता है रासायनिक परिवर्तनो के द्वारा और विद्युत् प्रकपनो के परिवर्तनों के द्वारा। यह असभव नही है। परमात्मा के ध्यान मे परिवर्तन की महान शक्ति है।

इसी कारण आचार्यश्री इस तथ्य को नैसर्गिक परिवर्तन के एक महान सिद्धान्त को अगले श्लोक में प्रस्तुत कर रहे हैं।

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूर ,
कृत्स्न जगत्त्रयमिद प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुता चलिताचलाना,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाश ॥१६॥

नाथ!	–	हे स्वामिन्
त्वम्	–	आप
निर्धूमवर्ति	–	धुवा और वर्तिका (बाती) से रहित
अपवर्जिततैलपूर	–	लबालब तेल से रहित
चलिताचलानाम्	–	पहाड़ों को डावाडोल करनेवाली
मरुताम्	–	हवाओ से
जातु	–	कदाचित् कभी भी
न गम्य	–	प्रभावित होने योग्य नहीं हो, अर्थात् प्रवेश पाने के योग्य नहीं हो
इदं	–	इस
कृत्स्न	–	समस्त
जगत्त्रयम्	–	तीनो लोकों को

प्रकटीकरोषि – प्रकट कर रहे हो, आलोकित कर रहे हो
जगत्प्रकाश – (हे) विश्वभर को प्रकाशित करने वाले (आप)
अपर – अपूर्व
दीप – दीपक
असि – हो

यहा पर "**दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ। जगत्प्रकाश**" द्वारा परमात्मा को अपूर्व परम दीपक के रूप मे सबोधित किया है। प्रथम तीन पंक्तियो मे सामान्य दीपक के कुछ दुष्प्रभावित कारणो को प्रस्तुत कर परमात्मा को दीपक से अनुपम प्ररूपित किया, परतु अतिम पंक्ति मे वृत्ति परिवर्तन करानेवाले इस महान तत्व को दीपक से बढ़कर कोई दूसरा उपमान न देखकर अपूर्व दीपक के रूप मे प्रज्ञापित किया।

आप दीपक हो परन्तु दीपक से सम्बन्धित कारणो से रहित हो–इन कारणो मे भी बड़ा रहस्य है–

१ **निर्धूम**–सामान्य दीपक प्रकाशित होता है पर उसमे निरतर धुवाँ होता है। आप अपूर्व दीपक हो। आप मे कोई धुँवा नही है क्योकि धुवॉ कालिमा, धुधलापन, व्याकुलता और गरमी का प्रतीक है।

परम प्रभु तू घाति कर्म से सर्वथा रह्ति है। ये चारो कर्म धुवे की भाति हैं।

१ ज्ञानावरणीय कर्म–कालिमा का प्रतीक है, स्वय ज्योतिर्मान ज्ञान स्वरूप आत्मा इस कर्म के प्रभाव से अधकारमय है। आप ज्ञानावरणीय कर्म से रहित हो अत सदा ज्योतिर्मय हो।

२ दर्शनावरणीय कर्म–जो धुधलापन का प्रतीक है क्योकि जीव की यथास्थिति रूप वास्तविक बोध मे बाधक कारण है। आप इस कर्मावरण से सर्वथा रहित हो अत अनन्तदर्शी हो।

३ मोहनीय कर्म–इसका मुख्य काम जीव को आकुल-व्याकुल कर देना है। अनन्त अव्याबाध आनद स्वरूप आत्मा इसी कर्म से बेचैन होकर प्रबल भ्राति मे अनादिकाल व्यतीत करता है। आप वीतरागी हो अत मोहनीय रजित राग–द्वेषादि से सर्वथा रहित हो।

४ अतराय कर्म–आत्मा इस कर्म के कारण उल्लास रहित होकर नि सत्त्व बन जाता है। अत· आप अनन्तवीर्य सम्पन्न हो।

२. **वर्तिका** (बाती) से रहित–मोह और मिथ्यात्वभाव रूप बाती से भी तू रहित है।

३ **अपवर्जिततैलपूर** –याने लबालब तेल से रहित। तैल चिकनापन का प्रतीक है। गोद और तैल दोनो चिकने पदार्थ गिने जाते हैं पर गोद का चिकनापन पानी से साफ हो जाता है, तैल का नही। इसीलिए स्नेह–रागभाव को तेल की उपमा दी गई है। परमात्मा तू परम वीतरागी है। अत राग रूपी तैल से तू सर्वथा रहित है।

दीपक के ज्योतिर्मय भाव–स्पर्श से हमारा चैतन्य दीपक भी तत्स्वरूप ज्योतिर्मान हो सकता है। तब फिर हम मे और परमात्मा मे कोई अन्तर नही हो सकता है। परिवर्तन का यह कितना महान् सिद्धान्त है। हम भी सर्वथा विकार रहित, कर्म-कषाय रहित हो सकते हैं। मात्र साधना–भक्ति द्वारा उनके महान् भाव-स्पर्श की आवश्यकता है। परम मे सभी चरम को परम बनाने की महान सिद्धि/शक्ति है। हम स्वय परमात्म स्वरूप हैं, हम मे और उन मे कोई फर्क नही है।

सर्वथा ससारी सर्वदा कर्मों से घिरा हुआ यह जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। कितना अद्‌भुत सिद्धान्त है यह। सदा ज्ञानावरणीय से आवरित आवरण मुक्त हो सहज केवलज्ञान प्रकाश से अनन्तज्ञानमय होता है। अनन्त दर्शन को प्रकट करता है। सर्वथा व्याकुलता रहित निज सहज अव्याबाध आत्मिक स्वरूप को उपलब्ध कर लेता है।

परिवर्तन का यह सिद्धान्त जैन दार्शनिक धरातल पर अत्यन्त मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। सामान्यत व्यक्ति स्वय को कर्मबधन मे बधा हुआ मानकर अत्यन्त लाचार और विवश मान रहा है। फलत' वह कुछ नही कर पाता है। जब भी कोई दु ख की अनुभूति को वह पाता है तो उसे कर्मोदय मानकर सात्वना पाता है। कर्मोदय से जीव सुख-दु.ख की अनुभूति अवश्य पाता है। परन्तु, कर्मों के उदय के पूर्व व्यक्ति इसके परिवर्तन मे स्वतत्र है। वह उसे बदल सकता है, समाप्त कर सकता है, या पहले भी उदय मे ला सकता है। कर्म बधन से उदय के बीच के इस अवसर को कर्म-सिद्धान्त मे अबाधाकाल यानि Extension Period कहते हैं। "जो किया है वह भोगना ही पडेगा।" इस सामान्य सिद्धान्त मे कर्मशास्त्र एक बहुत बडा अपवाद सिद्धान्त भी समझाता है। कर्म-सिद्धान्त मे इसे उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा और सक्रमण कहते हैं। हम आज यहा जिस परिवर्तन पर सोच रहे हैं वह हमे इस अपवाद से बहुत कुछ प्रदान करता है। सक्रमणकरण यह परिवर्तन का प्रमुख सिद्धान्त है।

आगम मे इसे इन शब्दो मे कहा है–

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, त जहा–

१. सुभे नाममेगे सुभविवागे,

२ सुभे नाममेगे असुभविवागे,

३. अंसुभे नाममेगे सुभविवागे,

४. असुभे नाममेगे असुभविवागे।

–ठाण ४। ६०३

इसमे दूसरा और तीसरा–ये दोनो विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं और सक्रमण के सिद्धान्त के प्ररूपक हैं। एक होता है शुभ, पर उसका फल अशुभ होता है। दूसरा अशुभ होता है पर उसका फल शुभ होता है। बॅधा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका फल पाप होता है। बॅधा हुआ

है पाप कर्म, पर उसका फल पुण्य होता है। कितनी विचित्र बात है। यह सारा सक्रमण का सिद्धान्त है। सक्रमण का सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ शुभ मे और शुभ अशुभ मे बदल जाता है। सक्रमण से कर्म–परमाणुओ मे परिवर्तन किया जा सकता है।

सक्रमण का यह सिद्धान्त कर्मवाद की बहुत बड़ी वैज्ञानिक देन है। आज के वैज्ञानिक इस प्रयत्न मे लगे हुए हैं कि "जीन" को यदि बदला जा सके तो पूरी पीढ़ी का परिवर्तन हो सकता है। सक्रमण का सिद्धान्त जीन को बदलने का सिद्धान्त है। आधुनिक "जीव विज्ञान" की जो नई वैज्ञानिक धारणाए और मान्यताएँ आ रही हैं, वे इसी सक्रमण सिद्धान्त की प्रतिपादनाए हैं।

इस श्लोक मे ५ लकार हैं जो क्रमश लक्ष्य, लगन, लय, लीन और लाभ का प्रतीक है। परमात्म-भक्ति का प्रथम लक्ष्य बनता है, बाद में भक्त की परमात्मा मे लगन लगती है, जहा लगन होती है वहा साधक उस रूप मे लय होता है। लयता लीनता से ही पल्लवित होती है और अन्त मे–लीनता तत्स्वरूप हो जाने का अनन्य लाभ प्राप्त कराती है।

परिवर्तन के इस महान सिद्धान्त को आचार्यश्री के द्वारा इस गाथा मे प्राप्त कर हम अपने मे एक अपूर्व परिवर्तन कर सके तो भक्तामर स्तोत्र हमारे लिये भी सफल स्तोत्र है। सहज परिवर्तन की दिशा मे प्रगतिशील साधक की लोक पर जो प्रतिक्रिया होती है उसे हम प्रसन्नता के रूप मे देखते हैं। बिना प्रसन्नता के अनुष्ठान निरर्थक है। इसकी सार्थकता अब हम परम-आत्मिक "प्रसन्नता" नामक प्रवचन से सम्पादित करेंगे।

हे वत्स! आत्मा अनत आनद से सम्पन्न है, परिपूर्ण है, उसी में तू अपने मन को लगा, चित्त को रमा, उसी मे अपने अध्यवसायो को सजोये रख।

भक्तामर स्तोत्र परम प्रसन्न स्वरूप परमात्मा से मिलन कराकर उस प्रसन्न स्रोत मे भक्त को अनुस्यूत करता है। इसी विलक्षणता ने इस स्तोत्र की गरिमा बढ़ायी है। काल के परिवर्तन मे भी इसकी यह विशिष्टता आज भी यथावत् है। आज भी भक्तामर स्तोत्र का पाठ करने वाला समस्त दलितो से मुक्त हो, प्रसन्न होता है। कोई इसे स्तोत्र का चमत्कार मानता है, कोई इसे परमात्मा का प्रसाद मानता है तो कोई इसे कर्मक्षय द्वारा क्षायिक भावो की उपलब्धि मानता है। परतु, एक बात निश्चित है कि यह स्तोत्र प्रत्येक काल, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक वातावरण में प्रसन्नता प्रदान करने का गुण प्रकट करता रहता है।

यदि इसे चुनौती ही मानें पर एक बात अवश्य ध्यान रहे कि बिना चित्त-शुद्धि के यह प्रसन्नता नहीं मिल सकती। बिना प्रसन्नता के क्षोभ नहीं मिट सकता। प्रत्येक आक्रमणों से क्षुब्ध होने वाला प्राणी चिरप्रसन्नता का पात्र नहीं बन सकता, क्योंकि जिस हृदय में स्थायी प्रसन्नता आती है वहां खिन्नता समाप्त हो जाती है। फलत प्रसन्न व्यक्ति के पास जो भी आता है, प्रसन्न हो जाता है।

आचार्यश्री भक्तामर स्तोत्र द्वारा हमें यही सिखाते हैं–परम के स्वरूप को अपने भीतर प्रकट करो, उदित करो। यह उदय ऐसा उदय है जिसका कभी अस्त नही होता है। सम्पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ इस प्रसन्न स्वरूप की अपने भीतर प्रतिष्ठा करो। अनुकूलता का भेद भूल जाओ। प्रतिकूलताएँ अपने आप अनुकूल होती जाएँगी। इन्ही भावों को उनकी भाषा मे अब देखे–

नास्त कदाचिदुपयासि न राहुगम्य·
स्पष्टीकरोषि–सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर–निरुद्ध-महाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके॥ १७॥

मुनीन्द्र!	–	हे मुनीश्वर (आप)
कदाचित्	–	कभी भी
अस्तम्	–	अस्त अवस्था को
न	–	नहीं
उपयासि	–	प्राप्त होते हो
न	–	न
राहुगम्य	–	राहु ग्रह के द्वारा ग्रसने योग्य (राहु नवग्रहो मे एक ग्रह है जो सूर्य तथा चन्द्रमा के ऊपर सक्रमण काल मे अपनी छाया डालता है। तब उनका ग्रहण हुआ माना जाता है।)

असि	– हो
न	– न
अम्भोधरोदर-निरुद्धमहाप्रभाव	– बादलो के उदर मे जिसका महाप्रभाव अवरुद्ध हो सका है (अत)
लोके	– इस लोक मे
सूर्यातिशायि महिमा	– सूर्य से भी अधिक महिमा को आप धारण करने वाले
असि	– हो।

यहा पर सूर्य के साथ परमात्मा की तुलना करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि तुलना उनकी होती है जो समान हो। भक्तामर स्तोत्र की अद्भुत शैली यही है कि इसमे पहले तुलना करने का प्रयत्न कर फिर अतुलनीय बताकर पुन उन्ही उपमा को प्रतीक बनाकर परमात्मा को विश्लेषित किया गया है।

इसे हम तीन तरह से देखेगे–

१ सामान्य याने जागतिक सूर्य।

२.परमात्मारूप सूर्य।

३ आत्म सूर्य।

१ सामान्य सूर्य–सूर्य जो प्रतिदिन उदित होकर सृष्टि के प्राणियो को नवचेतना, स्फूर्ति और आवश्यक ऊष्मा प्रदान करता है। मानव सृष्टि ने अपने मानस–विकास मे इसे अधिक मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण माना है। चूँकि इसके अभाव मे मानवीय ऊर्जा की तरगो मे परिवर्तन आना असभव है।

उदित होते हुए सूर्य की कई लोग पूजा अर्चना करते हैं, नमस्कार करते हैं। इसकी विविध तरह से पर्युपासना कर जगत ने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। सर्व प्रवृत्तियो का प्रेरक बल यह सूर्य शुद्ध तेजोलेश्यावान् है। इसी कारण इसे रोग, अधकार और गदगी रूप अनिष्टों को दूर करने वाला माना है।

इस सृष्टि के प्राणियो को सूर्य की इतनी अधिक आवश्यकता होने पर भी इसका अभाव भी होता है। यह अभाव नित्यसृष्टि मे नियमित हो जाने से हम इसे अनुभव का विषय नही बना सके हैं, परतु जब एक भावसूर्य की हमे उपलब्धि होती है तब अभाव-सूर्य के अभाव का हमे उद्‌बोध होता है। इसी विशिष्ट ध्यान प्रणाली मे लीन कविश्री ने जागतिक सूर्य मे चार अभाव दर्शाये हैं–

१ यह अस्त होता है।

२ राहु से ग्रसित होता है।

३ बादलो के उदर में इसका महाप्रभाव अवरुद्ध हो सकता है।

४ यह दिन मे प्रकाश देता है, रात में नही। यह खुले स्थानो को पूर्ण रूप से आलोकित करता है, आच्छादित स्थानो को नही।

अब इस सामान्य सूर्य की परमात्मारूप सूर्य के साथ तुलना कर इन दोनों सूर्यो का हमारी अपनी चेतनसृष्टि पर होने वाले प्रभाव को देखेगे।

हे विश्वविभु! आप सूर्य से भी अधिक महिमा को धारण करने वाले हो क्योंकि सूर्य मे पाये जाने वाले चारो अभाव आप मे सम्पूर्ण भावरूप हैं।

१ सूर्य उदय भी होता है अस्त भी होता है परतु हे प्रभु! आप कभी अस्त नही होते हो। केवलज्ञान पूर्ण है। इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में कभी अभाव नही आता है। क्योंकि आप शाश्वत हो, नित्य हो, ध्रुव हो।

२ राहु ग्रह से सूर्य ग्रसित होता है जिसे ससार ग्रहण कहता है। हे परमात्मा! ससार के किसी भी जड़ परमाणु से आप ग्रसित नही होते हो। सर्वथा द्वेष से रहित होने से आपका कोई दुश्मन नही है। इसलिए आपके आत्मतेज को अवरुद्ध करे ऐसा कोई राहु इस सृष्टि मे नही है।

३ सघन बादलो के समूह मे सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है। परमात्मा! आप अनिरुद्ध हो। सर्वथा कर्म रहित हो। कर्मरूपी बादलो का अश मात्र भी आपको अब रोक नही सकता है। आपका परम चैतन्य सूर्य नित्य आवरण रहित होता है।

४ सर्व दूषणो से रहित है परमात्मा। जागतिक सूर्य एक साथ सृष्टि के कुछ विभाग को आलोकित करता है लेकिन आप समस्त लोकालोक को एक ही साथ आलोकित करते हो।

इन विशिष्टताओ के कारण आपको "**आइच्चेसु अहिय पयासयरा**" सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाला माना है।

इन दोनो सूर्यो के स्वरूप का विश्लेषण करने पर एक प्रश्न होता है कि जगत का सूर्य कुछ समय, क्षेत्र या अस्त की मर्यादा मे बधा हुआ भी कुछ समय, कुछ क्षेत्र या अस्तित्व की स्थिति मे आवरण रहित अवस्था मे हमारे दैहिक और मानसिक अवतरणो में परिवर्तन और परिवर्धन लाकर हमे प्रसन्नता प्रदान करता है, परतु जिन परमात्मरूप सूर्य की महिमा की हम चर्चा करते हैं वे हममे क्या परिवर्तन कर सकते हैं? हमारी मानसिक प्रसन्नता को कैसे वर्धमान कर सकते हैं? उनके इस महत्त्व का स्वीकार भी कर लें, परतु उनका हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? इसे समझे बिना भक्तामर स्तोत्र से हमारा कोई सबध स्थापित नहीं होता है।

हमारी आत्मा स्वय एक सूर्य है जो सदा अस्तित्वमय है। शाश्वत, नित्य और ध्रुव है। योग के अनुसार शरीर मे षट्चक्र हैं। इनमें मणिपूर चक्र जो नाभिस्थान मे रहता है इसे सूर्यचक्र भी कहते हैं। मानवीय प्राण नाभिकेन्द्र से स्पंदित होते हैं। समस्त प्राणधारा विशेष ऊर्जा से व्यवस्थित रहती है। "नमो अरिहताण" या "अर्हं" की विशेष ध्वनि से साथ श्वासोश्वास को विधियुक्त मणिपूर या सूर्यचक्र मे पूरित करने से हमारी अत तरगो का विशेषत बाह्य प्रकाश तरगो के साथ सबध स्थापित होता है। मणिपूर चक्र का भक्तामर के साथ के सबध को हमने स्तोत्र की प्रथम गाथा के विवेचन मे भी सयोजित देखा था।

मन के सस्कार मणिपूर चक्र से सयोजित होते हैं। बाह्य वातावरण का प्रभाव मन पर पडता है, इससे हमारे मन के सस्कारो मे परिवर्तन आता है। सर्वथा विकारो से रहित आत्मा अनायास इस विकारी दुनिया का प्रवास करने निकलता है। इसी के द्वारा हममे क्रोधादि विकार रूप कषाये प्रकट होती हैं। सर्वथा शब्द, रूप, स्वादादि में सतत रमनेवाले इन भावो का परिवर्तन कैसे सभव हो सकता है? इसका उपाय साधना मे सस्कार परिवर्तन से बताया है। यह सूर्य चन्द्र से सम्बन्धित है। यदि हम सूर्य या मणिपूर चक्र मे स्पंदित प्राण धारा की तरगो का सबध किसी शान्त, विकार रहित तरगो से सयोजित कर देते हैं तो सस्कारो मे परिवर्तन आ जाता है। और, सस्कारो का परिवर्तन हमारे जीवन के समस्त क्रियासूत्रो का परिवर्तन है।

ऐसी शात, विकार रहित तरगे मात्र परमात्मा वीतराग प्रभु मे ही निहित हैं, इसी कारण साधना मे हम इन्हें परम आराध्य देव मानते हैं। मत्र और ध्यान साधना की विशेष विधि से बाह्य तरगों मे प्रवाहित सस्कार अतरग मे परिवर्तित किये जा सकते हैं। यह परिवर्तन आत्मवृत्ति का परिवर्तन है। वृत्ति का परिवर्तन ही वास्तविक परिवर्तन है। परमात्मा की परम प्रसन्नता का वह विशेष पात्र बन जाता है। उसकी वे विशेष निष्क्रिय क्षमताएँ सक्रिय हो जाती है।

आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है, अस्तित्वमय है। फिर भी विभिन्न पर्यायो मे वह परिवर्तित होता रहता है, बदलता रहता है। यह सदोदित ही है। इसका अस्त नही होता। फिर भी अज्ञान के कारण भ्रामक धारणा मे दैहिक-जन्म-मृत्यु आदि को जीव स्वय की जन्म मृत्यु मानता है। इसलिए महायोगी श्रीमद् राजचद्रजी ने कहा है–

"देह–जीव एकरूप भासे छे अज्ञान वडे
क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे,
जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुख, मृत्यु,
देह नो स्वभाव जीव–पद मा जणाय छे .
जड़ ने चेतन बनने . "

परमात्मा का ध्यान हमें इस भ्रमपूर्ण मिथ्यादर्शन से मुक्त कर सहज आत्मदशा मे सयोजित करता है।

विकाररूप राहु से ग्रसित हो जाने के कारण इसका निर्विकार सहज तेज आवरित हो जाता है। निर्विकार परम तेजरूप परमात्मा-सूर्य से सम्बन्ध स्थापित करने पर निर्विकार स्थिति प्रकट हो जाती है।

कर्मरूप बादलो के आवरणों में छिपा यह निज स्वरूप अप्रकट रहता है। सर्वथा कर्म रहित परमात्मा का सम्बन्ध होने पर कर्मों के कारणरूप अन्य सर्व सम्बन्ध छूट जाते हैं और आत्मा स्वय कभी कर्मरहित स्थिति प्राप्त कर परमात्म-स्वरूप प्राप्त करता है।

क्षयोपशम भावों मे कभी सहज रूप से आलोकित होता है, कभी कर्मकषायो से अवरुद्ध होता है। लेकिन परमात्मारूप सूर्य का तेज प्राप्त कर शुद्ध निरजन आत्म चैतन्य को प्रकट करता है, प्रकाशित होता है।

इस पर से हम यह सोच सकते हैं कि जागतिक सूर्य के प्रकाश की गति एक सेकण्ड मे एक लाख छियासी हजार मील की है, तो आत्मरवि की गति कितनी तीव्र हो सकती है। ध्यान के द्वारा वह शीघ्र ही अनन्तवीर्य सम्पन्न वीतराग का सान्निध्य प्राप्त कर तत्स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

जैन कथा साहित्य मे परमात्मा महावीर के परम शिष्य प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी का आत्मलब्धि के द्वारा सूर्य की किरणे पकड कर अष्टापद पर्वत पर आरोहण का विशेष प्रसग आता है। कुछ समय पूर्व कई श्रोता इस कथन मे शका करते थे कि यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्या सूर्य की किरणे भी पकड़ी जा सकती हैं ?

अमेरिका के कुछ वैज्ञानिकों ने जब प्रथम बार यह घटना सुनी तो सोचा। जैनो के इस कथन मे अवश्य कुछ तथ्य है। उन्होने खोज शुरू की और इसे सफल करते हुए प्रथम बार मरीनर ४ को मगल ग्रह की ओर छोड़ा। उसके चार Solar Pancl के Bulbous पर सूर्य की किरणे गिरते ही वे अणुशक्ति के रूप में रूपातरित होती रही। इस प्रकार मरीनर ४ ने बत्तीस करोड़ माईल का प्रवास मात्र सूर्य की किरणें पकड़ कर किया था। यह मरीनर ४0 टन लोहे से निर्मित था। प्रश्न होता है यदि ४0 टन लोहे का आकाश जहाज ३२ करोड़ माईल का प्रवास सूर्य की किरणें पकड़कर कर सकता है तो अनन्त लब्धि सम्पन्न गौतम स्वामी क्यो नहीं अष्टापद पर्वत पर आरोहण कर सकते ?

विदेशो मे कुछ ऐसे भी देश हैं जहाँ ६ महिने तक सूर्य का अस्त नहीं होता है और इसी प्रकार ६ महिने उदय भी नही होता। ऐसे देश मे ६ महिने निरतर दिन होते हैं, ६ महिने निरतर रात होती हैं। बड़े दिन और बड़ी रात हो वहाँ भी अस्त तो है, परन्तु जिस आत्मा ने परमात्मारूप सूर्य को अपने अन्त करण मे प्रकट कर लिया उनका कभी अस्त नही होता।

सूर्य की तरह चन्द्र को भी उपमा का एक विशिष्ट साधन मानकर आचार्य श्री अगली पंक्ति में इन्हीं विचारधाराओं को चन्द्र के साथ वर्धमान करते हुए कहते हैं–

नित्योदय दलित-मोह-महान्धकार,
गम्य न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।

विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्प-कान्ति,

विद्योतयज्जगदपूर्व-शशांक-बिम्बम् ॥१८॥

(भगवन्)	–(हे परमात्मा!)
तव	– आपका
मुखाब्जम्	– मुख–कमल
नित्योदयम्	– सदा उदय रहनेवाला–रात-दिन उदय रहनेवाला
दलितमोहमहान्धकारम्	– मोहरूपी महान्धकार को नाश करनेवाला
अनल्पकान्ति	– अधिक कान्तिवान–अत्यन्त दीप्तिवान
न राहुवदनस्य गम्यम्	– राहु-ग्रह के मुख मे प्रवेश नही करता
न वारिदानाम् गम्यम्	– बादलो मे छिप नही सकता है
जगत्	– सम्पूर्ण विश्व को
विद्योतयत्	– विशेष रूप से प्रकाशित करता हुआ
अपूर्वशशाकबिम्बम्	– अलौकिक चन्द्रमण्डल
विभ्राजते	– शोभा देता है।

यह श्लोक गाथा १७ से बहुत कुछ अभिन्न है। वहॉ अस्त नही होने का कहा है, यहॉ नित्य उदित रहने का कहा है। इसी प्रकार अन्य सारी तुलनाऍ समझ लेनी चाहिये।

चन्द्र शीतलता का प्रतीक है। सर्वत्र प्रिय है। सहस्रार चक्र मे सिद्धशिला का ध्यान चन्द्र के आकार मे कर सिद्ध परमात्मा से एकरूपता साधी जा सकती है। ग्रीष्म की मौसम मे ऐसा ध्यान करने से पूरे बदन मे शीतलता का अनुभव होता है।

वैसे ही भक्तामर स्तोत्र मे चन्द्रमा का महत्व अधिक ही रहा है। चन्द्र मन का प्रतीक है। इसी कारण मानसिक विकारो से पीड़ित मानव समाज भक्तामर स्तोत्र के नित्य पारायण से आह्लाद प्राप्त करता है।

इन दोनो गाथाओ के समाहार रूप गाथा १९वी हैं।

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा ?

युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमस्सु नाथ!

निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,

कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

नाथ!	– हे स्वामिन्!
तमस्सु युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु	– आपके मुख-रूपी चन्द्रमा के द्वारा हर तरह के प्रगाढ़ अन्धकारो को नाश किये जाने पर

शर्वरीषु	–	रात्रि मे
शशिना किम्	–	चन्द्रमा से क्या प्रयोजन ?
वा	–	अथवा
अन्हि	–	दिन मे–दिवस मे
विवस्वता किम्	–	सूर्य से क्या प्रयोजन ?
निष्पन्नशालिवनशालिनि	–	परिपक्व धान से वनो के सुशोभित हो जाने पर
जीवलोके	–	भूलोक मे–पृथ्वी मे
जलभारनम्रै	–	पानी के भार से नीचे की ओर झुके हुए
जलधरै	–	बादलो के द्वारा
कियत् कार्यम्	–	कितना सा काम निकलता है ? अर्थात् कुछ भी नही।

परमार्थ की दृष्टि से प्रस्तुत गाथा भक्तामर स्तोत्र की एक अपूर्व गाथा है। निमित्त कारण का अत्यन्त महत्व प्रस्तुत करनेवाले इस स्तोत्र मे झलकता निश्चयात्मक स्वरूप यह इस गाथा की विशिष्टता है। आत्मा जब तक परमात्मा की भक्ति बाह्य रूप से करता है वह परमात्मा से सर्वथा भिन्न है। भक्ति की चरम सीमा मे यह भिन्नता समाप्त होती है। और भिन्न अभिन्न बन जाता है।

यहा धान्य की फसल पक जाने पर पानी की निरर्थकता बताकर साधक की एक उच्चदशा का आलोकन कराया है। साधक कहता है– हे परमात्मा! तुझे सूर्य कहूँ या चन्द्र ? मै स्वय भी एक सूर्य हूँ लेकिन वह, जिसका सहजस्वरूप अप्रकट है। इसीलिये वह अनुदीय है। एक बार साधना की परिपक्वता आने पर मेरा आत्मसूर्य या आत्मविधु स्वय प्रकाशमान-उदीयमान हो जाएगा। परिपक्वता के लिये ही प्रभु! तेरा स्मरण कर मैं प्रकाशमान होने का प्रयास करता हूँ। जब मैं स्वय प्रकाशमान हो जाऊँगा, तब तुझ मे और मुझ मे क्या फरक रहेगा ? अर्थात कुछ नही।

गौतम स्वामी के बारे मे ऐसा कथन है कि एक बार १५०० तापस सन्यासियो को दीक्षित कर वे परमात्मा महावीर के पास आ रहे थे। मार्ग मे नूतन दीक्षितों को धर्म, आत्मा और परमात्मा का स्वरूप समझा रहे थे। यह सब सुनते-सुनते ही नये मुनियो को पूर्ण केवलज्ञान हो गया था, और वे केवलियो की सभा मे जा बैठे थे। गौतमस्वामी छद्मस्थ थे, उन्होने कहा–आपको वहा नहीं बैठना है, तब परमात्मा महावीर ने कहा–गौतम! वे वहीं सही हैं, अब मुझ मे और उन मे कोई अन्तर नही है।

इस गाथा मे साधक परमात्मा से अपनी छद्मस्थदशा की सवेदना प्रकट कर परम की कृपा से शीघ्र पूर्ण-ज्ञान की शुभकामना करता है।

“जीवलोके” शब्द साधक की ऐसी ही दशा का द्योतक है और ऐसे मे परमात्मा की अत्यन्त आवश्यकता का संकेत है। जीवन में साधना की खेती के पक जाने पर प्रभु तेरी

क्या आवश्यकता है, पर अभी तो सिर्फ साधना के बीज बोये हैं। तू नही बरसेगा, तेरी कृपा नही होगी तो इस भयानक दुष्काल मे ये बीज सड़ जायेगे, जल जाएगे।

परमात्मा की इस प्राप्ति की आवश्यकता को और विकसित करते हुए मुनिश्री कहते हैं–

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाश,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि॥ २०॥

कृतावकाशम्	–	अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों को प्रकाशित करने वाला
ज्ञानम्	–	केवलज्ञान
यथा	–	जिस प्रकार
त्वयि	–	आप मे
विभाति	–	शोभायमान है
तथा	–	वैसा (उस प्रमाण से)
हरिहरादिषु	–	हरिहरादिक अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि मे
नायकेषु	–	नायको मे, लौकिक देवताओ मे
न एवम्	–	वैसा है ही नही, अर्थात् सर्वथा ही नही
स्फुरन्मणिषु	–	झिलमिलाती मणियो मे (महान रत्नो मे)
तेज	–	दीप्ति, कान्ति, चमक-दमक
यथा महत्त्व याति	–	जैसा महत्व प्राप्त करते हैं
किरणाकुलेऽअपि	–	रश्मि राशि से व्याप्त होने पर भी
काच शकले	–	कॉच के टुकड़ो मे–कॉच के हिस्सो मे
तु	–	तो
न एवम्	–	प्राप्त ही नही करता

कृतावकाश शब्द यहा बडा महत्वपूर्ण शब्द है। कृत याने किया है। अवकाश के यहा दो अर्थ घटित होते हैं–

१ प्रकाश और २ अवसर (Chance)।

हे परमात्मा! अवसर प्रदान करनेवाला जैसा ज्ञान तुझ मे सुशोभित होता है वैसा अन्य मे नही होता है, क्योंकि तुझ मे प्रकट यह ज्ञान दूसरो के ज्ञान को मुख्य अवतरण बन जाता है। परमात्मा का ज्ञान अन्य के अज्ञान को हटाने का अवसर है।

ज्ञान के साथ शुद्ध सम्यग् दर्शन भी होता है। इसकी उपलब्धि को निखारते हुए आगे कहते हैं–

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदय त्वयि तोषमेति।
कि वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि॥ २१॥

नाथ!	–	हे भगवन्!
मन्ये	–	मैं मानता हूँ कि–
हरिहरादय	–	विष्णु और महादेव आदि लौकिक देव
दृष्टा	–	हमारे द्वारा देखे गये
एव वर	–	यह अच्छा ही हुआ
येषु दृष्टेषु	–	जिनके देख लेने पर
हृदय	–	(मेरा) हृदय
त्वयि	–	आप में
तोषम्	–	सन्तोष को
एति	–	प्राप्त होता है
भवता वीक्षितेन	–	आप को देख लेने से
किम्	–	क्या (होता है ?)
येन	–	जिससे
भुवि	–	भूमण्डल में (पर)
अन्य कश्चित्	–	अन्य कोई (देव)
भवान्तरे अपि	–	जन्म-जन्मान्तर में भी
मनो	–	मन को–चित्त को–हृदय को
न	–	नही
हरति	–	हरण कर सकता

इस गाथा में परमात्मा की उपलब्धि को सतोष का एक अनोखा रूप दे दिया है। इसकी महत्वपूर्ण पंक्ति है–

दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति

तुम्हें देख लेने पर हृदय में सतोष होता है। सतोष सदा प्रसन्नता लाता है। योगिराज आनदघनजी ने कहा–

चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्‌यु, पूजा अखडित एह रे।

परमात्मा के पूजन का यदि कोई फल है तो वह है चित्त की प्रसन्नता। उनकी पूजा की जाय, स्मरण किया जाय, नमन किया जाय। और, यदि चित्त प्रसन्न नही होता है तो पूजा निष्फल है। पूजा अखडित कैसे हो सकती है? तो कहते हैं कि वह चित्त की प्रसन्नता से होती है। द्रव्य-स्मरण निरतर नही होता है, पर भाव-स्मरण निरतर होता है और ऐसा निरतर ध्यान निरतर प्रसन्नता लाता है।

परमात्मा के कृपा प्रसाद से प्रसन्न और पुलकित व्यक्ति विश्वास के क्षणो मे सर्व आकर्षणो से मुक्त होकर एक विशेष स्वरूप मे सलीन हो जाता है। प्रसन्नता की यह परिपूर्ण सफलता स्वरूप की उपलब्धि है। इसे हम "स्वरूप" नामक विवेचन से प्राप्त करेंगे।

■

श्लोक २२ से २७

१४. स्वरूप

स्वरूप स्वभाव है। जो स्वय से कभी विलुप्त नही होता है वही तो स्वरूप है। जो निरतर प्रज्वलित रहता है, और प्रकटित होता है। स्व अनन्त है, अत स्व के रूप भी अनन्त हैं। अकेले के लिए, अकेले के द्वारा, अकेले की उपलब्धि मे अनन्त को समा देना स्वरूप को पा जाना है।

स्वरूप याने अपनी चेतना का साक्षात्कार। समग्र विभाजनो मे छटी-बटी ऊर्जा निज-सहज मे जब वापस लौटती है तब स्वरूप का बोध होता है। इस बोध मे बाधक स्वय मे स्वय को भूल जाना है। स्वरूप मे लौटना याने अपने आपको पाना है। स्वरूप से अनभिज्ञ रहना याने अपने आपको खोना है। सपनो का सौदागर बना हुआ व्यक्ति कल्पना और भ्रांति मे सिमटकर अपनी समग्र ऊर्जा को विभाजित कर अवबोध से रहित होता है।

स्वरूप को पाना ही अस्तित्व की सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्वरूप मे रम जाना सच्ची समाधि है और स्वरूप के आनन्द मे स्वय को देखते रहना सम्यक् सम्बोधि है। स्वरूप का आदर करने से स्वरूप की उपलब्धि होती है। जो स्वरूप को उपलब्ध कर लेता है उसे अपने अस्तित्व का बोध हो जाता है।

स्वरूप से यह तथ्य झलकता है कि मानी हुई सत्ताए केवल भ्रम के आधार पर जीवित हैं। जब तक प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज करता है तब तक वह स्वय से ही धोखा करता है। स्वय से ही अचिन्हित रहता है।

स्वरूप का अनुसधान परमात्मा बनने की प्रक्रिया है, परन्तु प्रश्न होता है कि इस स्वरूप को, जो अपना ही निजरूप है कैसे प्रकट किया जाय? महापुरुषों ने इसका समाधान दिया कि चैतन्य में प्रतिष्ठित होने पर ही स्वरूप उपलब्ध हो सकता है।

जब तक व्यक्ति चैतन्य से बाहर होता है वह वासना से प्रभावित होता है। वासनामय वातावरण मे आन्दोलित होता है और वासना के ऊर्ध्वीकरण से तरगित होता है। परिणामत उसकी ऊर्जाए विरुद्ध दिशा मे प्रगति करती हैं। और उसे अस्तित्व बोध से रहित करती हैं।

स्वरूप की अनुभूति से रहित होकर वृत्ति को सजोते रहना—यह अपने आप से नैतिक अपराध है। सृष्टि ने इस अपराधी मनोवृत्ति का एकमात्र दण्ड स्वानुभव से रहित होना बताया है। वृत्तियो से व्याकुल चित्त को पवित्र वातावरण भी पावनता नहीं दे सकता

है। महापुरुषो का सान्निध्य और उनके स्वरूप का चिन्तन साधना क्षेत्र मे स्वरूप जगाने की सबसे बड़ी चुनौती है।

स्वरूप की उपलब्धि जन्म और मृत्यु से पर होने की प्रक्रिया है। फिर भी आचार्यश्री ने परम पुरुष के जन्म को महत्त्वपूर्ण बताते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वह जन्म भी महान् है जिसमे स्वय के स्वरूप को उजागर कर अन्य अनेक आत्माओ को स्वरूप का पथ-दर्शन कराया जाय। इसी को आचार्यश्री इस पद द्वारा समझाते हैं।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुत त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥ २२॥

स्त्रीणाम् शतानि – स्त्रियो के शतक अर्थात् सैकडो स्त्रिया
शतश – सैकडो
पुत्रान् – पुत्रो को
जनयन्ति – जन्म देती हैं (परन्तु)
त्वदुपमम् – आपके समान
सुतम् – पुत्र को
अन्या – दूसरी अर्थात् आपकी माता के अतिरिक्त और कोई भी
जननी – माता
न प्रसूता – नही जन सकी, नही उत्पन्न कर सकी
सर्वा – सभी
दिश – दिशाएँ
भानि – नक्षत्रो को, ताराओं को
दधति – धारण करती हैं (किन्तु)
प्राची एव दिग् – पूर्व दिशा ही, केवल पूर्व दिशा ही
स्फुरदशुजालम् – प्रकाशमान किरणो के समूह वाले
सहस्ररश्मि – सूर्य को,
जनयति – जन्म देती है ।

परमार्थ से इस श्लोक में चेतना के अनूठे भव्यत्व को उद्घाटित किया गया है। देहसामर्थ्य के दृष्टिकोण से मोक्षमार्ग के दाता, महामगलकारी परमात्मा को गर्भरूप मे धारण करनेवाली माता भी सामर्थ्यवान् होती है। परमात्मारूप अद्वितीय पुत्र को अवतीर्ण

करने वाली माता भी असामान्य होती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहा पर परमात्मा की तुलना सूर्य से और माता की तुलना पूर्व दिशा से कर इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

अब हम सोचेगे कि इस श्लोक के साथ हमारा और परमात्मा का क्या सबध है? हम में आचार्य सहित भक्ति करनेवाले हम सब आ जाते हैं। देह-सामर्थ्य और भक्ति-सामर्थ्य की यहा तुलना की जा रही है। भक्ति एक स्रोत है, प्रवाह है, प्रक्रिया है, गति है, गत्यात्मकता है। भक्ति स्वय मातृस्वरूपा है। भक्ति को वात्सल्य का ही रूप माना है। ऐसी भक्ति जब समस्त रोमो में रम जाती है, आत्मप्रदेशो मे छा जाती है तब चैतन्यरूपा हो जाती है, ऐसी चेतना माता है और यह माता अपने मे परमात्म स्वरूप को जन्म देती है (प्रकट करती है)।

भक्ति के अतिरिक्त अन्य कौन सी भावस्थिति है जो परमात्मा को प्रकट कर सके? जैसे अन्य दिशाए अन्य नक्षत्रो को धारण कर सकती हैं पर रविराज को प्रसव करने का सौभाग्य तो सिर्फ प्राची को ही मिला है वैसे ही भक्ति से ही भगवान प्राप्त होते हैं। परम वात्सल्य भरे हृदय मे ही परमात्मतत्त्व प्रकट हो सकता है, अतिरिक्त भावस्थिति मे नही।

प्रस्तुत महाभावो को हृदय मे धारण करना आसान नही है। गहराई मे उतरने पर ही इसका अनुभव हो सकता है। इन भावो का स्वीकार कर लेने पर प्रश्न होता है कि जो कभी नही सोचा वह हुआ और हमारी अनन्त चेतना मे वह परम प्रकट हुआ तो इसका क्या प्रयोजन या परिणाम हो सकता है? उनको प्राप्त करने से क्या लाभ है? जिसके अभाव मे हमने क्या खोया था जो भावमय होने पर पा लिया?

इसके उत्तर मे आचार्यश्री स्वय साक्षी बनकर हमारे सामने आते हैं। हम प्रारम्भ से देख रहे हैं कि सभी के मोक्ष की कामना करनेवाले आचार्यश्री के सामने विविध परिस्थितियो का सर्जन आत्मिक-परिवर्तन मे किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न नही कर रहा है। परिस्थितियो का आना और व्यक्ति की दृढ़ता मे परिवर्तन हो जाना, यह तो ससार का नियम है लेकिन मुनि, सन्त जब साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करते हैं तब ऐसी सासारिकता का त्याग करके ही आगे बढ़ते हैं। भक्तामर स्तोत्र इस तरह की हमे सम्पूर्ण प्रतीति कराता है कि परिस्थिति का, प्रतिकूलता का वातावरण बना देना, यह बहुत सहज और स्वाभाविक है। लेकिन भक्तामर स्तोत्र अपनी सर्वोपरि अद्‌भुतता प्रकट करता है वह यह कि परिस्थिति की प्रतिकूलता व्यक्ति की आत्मिक अनुकूलता में कभी भी बाधा उत्पन्न नहीं कर सकी, बल्कि प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को व्यक्ति अपनी साधना के बल पर अनुकूल बनाता चला जाता है।

यहा पर बेड़ियो के बधनों का टूटने का महत्त्व जितना हम मानते हैं उससे भी अधिक महत्व है आचार्यश्री की निर्द्वन्द्वता का, आचार्यश्री की निश्चलता का, आचार्यश्री की दृढ़ता का। उन्होने प्रत्येक प्रतिकूलता को अनुकूल बनाया। इसीलिए यदि आप अन्वेषण

करेंगे तो पूरे भक्तामर स्तोत्र मे एक शब्द या एक भी पद्य ऐसा नही मिलेगा जिसमे उन्होने परमात्मा से ऐसी प्रार्थना की हो कि हे परम प्रभु! तुम मेरे आराध्य हो फिर भी मै बेडियो के बधन मे बधा हूँ। पहले तो बधना ही नही चाहिये और यदि बध गया तो वे बधन एक साथ टूट जाने चाहिये। मै एक-एक गाथा गाऊ और बधन टूटते जायँ . लेकिन ऐसा कोई पद्य इसमे नहीं है। बल्कि ऐसे भाव हमें अवश्य मिलते हैं कि वे तथ्य प्रस्तुत करते हैं। अभी दो दिन से हमारे यहा कर्म सगोष्ठी चल रही थी। कई विद्वानो ने विचारो और सिद्धान्तो का सामजस्य कर कर्म की theory पर विचार प्रस्तुत किये। मैं कभी सोचती हूँ हम किसी एक महापुरुष के जीवन की गहराई में उतर जायँ तो हमे कर्म सम्बन्धी सारे प्रश्नो का समाधान मिल सकता है।

आचार्यश्री हमे स्पष्ट समझाते हैं कि बेड़ियो के बधन आये क्यो? कौन किसको बेडियो मे बाध सकता है? यही राजा इसी मुनि को क्यो बेड़ी पहनाते हैं? हमारे पास इसका एक ही उत्तर है कर्म से। आचार्यश्री कहते हैं– कर्म के माध्यम से बेड़िया आयी हैं, जिस क्षण ये कर्म टूटेंगे, बेड़िया भी टूट जाएँगी। है कोई आश्चर्य इस बात का? बधन के माध्यम निमित्तरूप राजा है, पर अब तोड़ने के माध्यमरूप निमित्त परमात्मा है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की, मिलन की, चिन्तन की और अन्त मे परमात्मा बन जाने की एक विशिष्ट प्रणाली वर्तमान युग मे कही मिल सकती है तो वह भक्तामर स्तोत्र है।

जिनके अन्तर्मानस मे परमात्मा का तात्त्विक मिलन हो चुका है, हृदय मे निर्मलता आ चुकी है और जिनकी आत्मा विशुद्धि के क्षेत्र मे निरन्तर प्रगति करती हुई चली जा रही है। ऐसे आचार्यश्री के अनाहत नाद मे परमात्मा का स्वरूप प्रस्तुत होता है––

त्वामामनन्ति मुनयः परम पुमास-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः॥२३॥

मुनीन्द्र!	– हे मुनियों के नाथ!
मुनय	– मुनि लोग
त्वाम्	– तुमको
१. परमम् पुमासम्	– परम पुरुष, उत्कृष्ट पुरुष, लोकोत्तर पुरुष
२. आदित्यवर्णम्	– सूर्य के समान दैदीप्यमान
३ अमलम्	– निर्मल, कर्म-मल रहित
४. तमस परस्तात्	– (अज्ञानरूप) अन्धकार से परे
५. त्वाम् एव	– तुमको ही

सम्यक्	– भलीभाँति (पूर्ण रूप से)
उपलभ्य	– प्राप्त करके
मृत्युम् जयन्ति	– मृत्यु को जीतते हैं (क्योंकि आप स्वयं मृत्युजय हो)
शिवपदस्य	– मोक्ष पद का, निर्वाण पद का, मुक्ति पद का
अन्य	– कोई दूसरा
शिव	– प्रशस्त कल्याणकारी
पन्था	– मार्ग, रास्ता अथवा पथ
न	– नही है। (और)

त्वामव्यय – विभुमचिन्त्य – मसख्यमाद्य,
ब्रह्माण – मीश्वर – मनन्त–मनङ्गकेतुम्।
योगीश्वर विदित – योग–मनेक–मेक,
ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्ति सन्त ॥२४॥

	(भगवन्!)	– (परमात्मन्!)
	सन्त	– सन्त पुरुष
	त्वाम्	– आपको
६	अव्ययम्	– अव्यय, अक्षय, व्यय रहित
७	विभुम्	– व्यापक, उत्कृष्ट ऐश्वर्यवान्
८	अचिन्त्यम्	– अचिन्त्य, अदभुत, कल्पनातीत
९	असंख्यम्	– असख्य, सख्यातीत
१०	आद्यम्	– आदि-पुरुष, आदि तीर्थंकर, पच परमेष्ठी में आदि अर्थात् अरहत देव
११	ब्रह्माणम्	– ब्रह्मा, ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें ही रमण करने वाले, सकल कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी
१२	ईश्वरम्	– ईश्वर अर्थात् कृतकृत्य, समस्त देवों के स्वामी
१३	अनन्तम्	– अन्त रहित, अनन्त गुण युक्त, अनन्त चतुष्टय सहित

१४.	अनगकेतुम्	– कामदेव को नाश करने के लिए उससे बढ़कर केतु समान
१५	योगीश्वरम्	– योगीश्वर, सयोगी केवली
१६	विदितयोगम्	– योगवेत्ता, योग विशारद, योग को अच्छी तरह परखने वाला या जानने वाला
१७	अनेकम्	– अनेक, सहस्र नामधारी
१८.	एकम्	– एक, अद्वितीय
१९.	ज्ञानस्वरूपम्	– ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमय, केवलज्ञानी
२०.	अमलम्	– निर्मल, कर्म-मल रहित
	प्रवदन्ति	– कहते हैं

बुद्धस्त्वमेवविबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्व शंकरोऽसि भुवनत्रय– शकरत्वात्।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि॥२५॥

२१	विबुधार्चित	– गणधरो, विबुधजनो, विद्वानो द्वारा पूजित हे परमात्मा!
	बुद्धिबोधात्	– ज्ञान के विकास से, ज्ञान के प्रकाश से
	त्वम् एव बुद्ध	– तुम ही बुद्ध हो।
२२.	भुवनत्रयशकरत्वात्	– तीनो लोको के (भव्यात्माओ को) सम/शम करने से।
	त्वम् शंकर. (असि)	– तुम ही शकर (हो), कल्याणकारी हो।
२३.	धीर !	– हे धैर्य धारण करनेवाले प्रभो!
	शिवमार्ग विधे	– मोक्ष मार्ग की विधि के
	विधानात्	– विधान करने से अर्थात् प्रतिपादन करने से
	धाता असि	– विधाता हो।
२४.	त्वम् एव	– तुम ही
	व्यक्तम्	– प्रकट रूप से
	पुरुषोत्तम	– पुरुषोत्तम
	असि	– हो।

भक्तामर स्तोत्र में भक्तामर शव्द कहा सिद्ध होता इसकी हम खोज कर रहे हैं। आज परम स्वरूप का वर्णन करते हुए तीन श्लोकों के माध्यम से आचार्यश्री हमें सम्पूर्ण भक्तामरस्तोत्र की सार्थकता प्रदान कर रहे हैं।

त्वा आमनन्ति मुनय –मुनि तुम्हें इस प्रकार मानते हैं। यहा से श्लोक का प्रारम्भ हो रहा है। आप जानते हो आठवे श्लोक में हमने मत्वा शव्द का प्रयोग किया था। हमारे सामने दो चीजें हैं––ज्ञात्वा और मत्वा। जानना और मानना। ये दोनों चीजे महत्त्व की हैं। यदि ज्ञात्वा को आप अपने जीवन मे महत्त्व देंगे और मत्वा को नही देगे तो भी आपकी साधना अधूरी है और यदि मत्वा को आप अपने जीवन मे महत्त्व देगे और ज्ञात्वा को नहीं देंगे तो भी आपकी साधना अधूरी है। जैन दर्शन ने ज्ञात्वा और मत्वा दोनों को महत्व दिया है। लेकिन जव हम निश्चयनय के आधार पर परम स्वरूप के वर्णन के लिये आगे बढ़ते हैं तो हम सिर्फ ज्ञात्वा की याने जानने की प्रणाली पर हम आगे वढ़ते हैं और यदि किसी भी वस्तु/पदार्थ को सिर्फ जानने के रूप में ही आगे बढ़ेगे, लेकिन मानेगे नहीं तो हमारा जानना अधूरा रहेगा। आमनन्ति का मतलव होता है आपको मानते हैं। श्लोको के माध्यम से हमने परमात्मा के स्वरूप को जानने का प्रयास किया था लेकिन यहाँ आचार्यश्री सोचते हैं जानना तो ज्ञान का स्वभाव है और मानना दर्शन का स्वभाव है। ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु को जाना जाता है दर्शन के द्वारा उसी वस्तु को स्वीकार किया जाता है। जानने में हम कहते हैं– परमात्मा ! तू ज्ञानी है मै जानता हूँ, परमात्मा! मै अज्ञान से युक्त हूँ यह मै जानता हूँ। परमात्मा ! तू महान है मै लघु हूँ। परमात्मा ! तू कर्म से रहित है, मैं कर्म से युक्त हूँ, यह मै जानता हूँ। इससे क्या होगा, जान लिया हमने। सोचो तो सही, हमने जान लिया कि मुनि मानतुगजी जैसे कोई आचार्य थे, जिन्होंने परमात्मा का स्मरण किया था, उनकी वेड़ियो के बन्धन टूट चुके थे। पर भाई ! हमारे तो सूत के धागे भी नही टूटते हैं। हम क्यों गाते हैं भक्तामर स्तोत्र ?

परमात्मा कितने ही महान हैं, परमात्मा को मानने वाले मुनि कितने ही महान हैं लेकिन मुझे उससे क्या ? यह मंने जान लिया। इस श्लोक की विशिष्टता यही है कि यह हमें जानने से मानने तक आगे वढ़ाता है। आचार्यश्री के साथ अभेद करने पर ही हम इन पद्यों को समझ सकेगे और स्वीकार कर हमारे भीतर रहा परमात्मस्वरूप प्रकट कर पायेंगे।

कहते हैं, मुनि आपको मानते हैं। प्रश्न है, मुनि याने कौन ? कविश्री को हम यहा मुनि मानकर चलते हैं। अव वे कौन से मुनि की यहा वात करते हैं, जिसने परमात्मा को जैसे माना है वैसे मुझे मानना है ? त्वा शव्द के द्वारा–आमनन्ति शव्द के साथ हमारा सम्वन्ध स्थापित हो गया। आचार्यश्री के साथ अभेद करने पर हमारे साथ त्वा आयेगा। दूसरे श्लोक की तीसरी पंक्ति में "तं जिनेन्द्रम्" शव्द का प्रयोग हुआ है। त याने उन। उनका मतलव क्या ? कहने वाले के सामने जो नहीं है उन तृतीय पुरुष की वात करता है। त्वा कहते ही वे सामने हैं। तीसरे श्लोक के वाद ही यह परिवर्तन शुरू हो गया है और तव से वे Directly परमात्मा से ही वात करते आ रहे हैं।

मुनि किसे कहते हैं ? जिसने ससार का त्याग कर दिया क्या वे सब मुनि बन गये ? मुनि याने जिनके मन मे यह ससार सिर्फ परमाणुओ की रूपातर कथा मात्र है और कुछ नही। उनको यदि ससार की व्याख्या पूछी जाय तो वे इतना ही कहेंगे। ऐसे मुनि आपको जो मानते है वह आपका स्वरूप है।

आचार्यश्री की मान्यता को अब हम श्लोक के माध्यम से देखेगे और हमारे स्वरूप मे प्रकट करेंगे। तीन श्लोको के माध्यम से यहा परमात्मा के २४ विशेषण प्रस्तुत किये हैं। तीर्थंकर भी २४ होते हैं और दिन के घटे भी २४ होते हैं। इस प्रकार २४ के साथ हमारा व्यावहारिक और आत्मिक सबध रहा है। प्रतिघटे मे एक-एक तीर्थंकर को प्रस्तुत विशेषणो से स्मरण करना यह भी एक आराधना का क्रम है। विशेषणो का सर्कल बनाले और एक के बाद दूसरे तीर्थंकरो से इसे सयुक्त करते जाएँ तो बड़ा आनद आयेगा इस अनुष्ठान मे।

१ **परमम् पुमासम्**–आप परम पुमास हो। परम किसको कहते हैं ? जिनके लिये चरम और कुछ नही रहता है। चरम के बाद परम। जो पहले परम था, अभी परम है और जो परम रहने वाला है। परम वह कहलाता है जो जिसे भी मिले उसे परम बना देवे।

२ **आदित्यवर्ण**–सूर्य के जैसी प्रभावाले। सूर्य का वर्णन कई बार आ चुका है। आचार्यश्री ने सूर्य और चन्द्र को महत्त्व देकर हमारे हृदय और बुद्धि के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित किया है। साथ ही सूर्य का मणिपूर चक्र से साधना मे भी सम्बन्ध स्थापित होता है।

३ **अमलम्**–निर्मल हो। सर्वथा कर्ममल से रहित हो। आपका जो स्मरण करता है वह भी निर्मल होता जाता है।

४ **तमस परस्तात्**–हे परमात्मा आप अन्धकार से परे हैं, और आपका जो स्मरण करता है वह भी अज्ञानरूप अन्धकार से पर हो जाता है। यहा परमात्मा को सिर्फ विशेष्य के रूप मे ही न देखकर इनके साथ अभेद करने से हमारे जीवन मे परिवर्तन आ सकता है। Power Contact मे आयेगे तो Battery charge होगी, नही तो Battery down। जिस बिजली का Connection ही सही नही है वहा सिर्फ Bulbs का Decoration कुछ नही कर पाता है।

५ अब कहते हैं आप मृत्युजय हो और **'सम्यक् उपलभ्य मृत्यु जयन्ति'**– तुमको जो भलीभाँति प्राप्त करते हैं वे मृत्यु को जीतते हैं। तुझे अच्छी तरह से प्राप्त करके–यहा भलीभांति–सम्यक् याने अच्छी तरह से क्यो कहा ? परमात्मा को पाने का इससे अच्छा दूसरा तरीका भी कौन सा हो सकता है ?

परमात्मा के प्रति किये जानेवाले प्रेम भी दो तरह के हैं– 1 Sensitive और दूसरा Scientific प्रथम प्रेम मात्र अनुराग भरा होता है जिसमे व्यक्ति अपनी परिस्थितियो के

अनुसार भावनाओ का निर्माण कर परमात्मा से अपना प्रेम-सयोजन स्थापित करता है। इसमें परिस्थिति के हट जाने पर प्रेम में भी अभाव आना शुरू हो जाता है। दूसरे प्रेम मे प्रेमी परिस्थितियों से ऊपर उठा हुआ होता है। परिस्थिति से उसे कोई मतलब नही, कोई सरोकार नहीं है। यहा सिर्फ परमात्मा के प्रति भक्तिपरक प्यार है। यह प्यार स्वय एक अधिकार बन जाता है जहा किसी भी प्रकार की याचना या विवशता नहीं होती है। अध्यात्म विज्ञान से भरा प्रेम स्वय एक प्रयोग है। इसे किसी और Guarantee की आवश्यकता नहीं होती है। परमात्मा के साथ ऐसे उत्तम प्रेम में उन्हें प्राप्त करना याने सम्यक् प्राप्त करना है।

क्या होता है इन्हें प्राप्त करके? यह प्रश्न साधना मार्ग मे प्रवेश करने के पूर्व का है। जिनकी प्राप्ति की खोज की जा रही है, अनुसधान चल रहा है वे आखिर कौन हैं और उन्हें प्राप्त कर क्या हो सकता है? इसका उत्तर भक्तामर स्तोत्र है, और उसकी सम्पूर्ण सार्थकता प्रस्तुत श्लोक की ये पंक्तिया हैं। जो कहती हैं कि परमात्मा को प्राप्त कर वह होता है जो ससार मे अन्य कइयो को प्राप्त कर कभी नहीं होता है। हमने कइयों को प्राप्त किये पर उनसे वह नहीं पाया जो परमात्मा से प्राप्त करने पर पाया है। इसी झखना में अनेक उपाय किये पर सारे निरर्थक रहे। मागलिक में इसीलिये 'सरण पव्वज्जामि' शब्द का प्रयोग होता है। मैं शरण का स्वीकार करता हूँ। स्वीकार तब होता है तब अन्य विकल्प नही रहते हैं।

अब कहते हैं उन्हें प्राप्त करने से होता क्या है? इसके उत्तर में कहा है-"मृत्यु जयन्ति" परमात्मा को प्राप्त करने से मृत्यु परे विजय प्राप्त होती है। मृत्यु को जीतने के लिये कौन प्रयत्नशील नही है? मृत्यु पर विजय पाने के लिये अनेक निष्फल उपाय किये जाते हैं। परमात्मा स्वय मृत्युजय हैं उन्हें प्राप्त करने वाला स्वय मृत्युजय हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति स्वय सजीवनी मत्र है। मृत्यु पर विजय जन्म की विजय है। और जन्म पर विजय सारे ससार की विजय है।

प्रश्न होता है इन्हें प्राप्त कैसे किया जाय? इसका उत्तर भक्तामर स्तोत्र के प्रथम श्लोक के "सम्यक् प्रणम्य" शब्द द्वारा मिलता है। नमन तो हमने कई बार किये पर सम्यक् नहीं किये और इसी कारण परमात्मा भी हमें सम्यक् रूप से प्राप्त नहीं हुए। जैसे नमस्कार वैसी उपलब्धि। जब तक परमात्मा सम्यक् रूप से उपलब्ध नहीं होते हैं तब तक न तो मिथ्यात्व हटता है, न सत्य प्रकट होता है, न परमात्मा ही मिलते हैं। और जब यह सब कुछ न होगा तो बेड़ियाँ कहा से टूटेंगी? प्रणाम करते हैं तब तक परमात्मा हम से अलग है, उसकी उपलब्धि होने पर हम ही परमात्मा हैं। परमात्मा के प्रति किये जानेवाले सम्यक् प्राप्ति से "भक्त-अमर" पद को प्राप्त करता है। पुन याद करें 'भक्तामर' शब्द को। भक्त याने आत्मा अमर याने देव नहीं परतु वह जिसने मृत्यु को जीत लिया है, जो मृत्यु से ऊपर उठा हुआ है। इसी को योगिराज आनदघनजी कहते हैं-

अब हम अमर भये न मरेंगे
जा कारण मिथ्यात दियो तज
क्यूकर देह धरेंगे। अव हम

मरते क्यो हैं ? इसका एक कारण बताते हैं आनदघनजी। प्रश्न होता है न कि व्यक्ति मरता क्यो है ? हमारे पास इसका एक ही उत्तर है कि मरना पड़ता है, नही चाहते हुए भी मरता है क्योंकि जन्म लिया है। प्रश्न है फिर जन्म क्यो लेते हैं ? –आनदघनजी इसका महत्वपूर्ण कारण प्रदान करते हैं। वह कारण यदि समझ लेगे तो मै समझती हूँ कि हम सब उस व्याख्या/व्युत्पत्ति को समझकर हम भी कभी अमर पद प्राप्त कर लेगे। जिसको अमर होना होगा वे "अब हम अमर भये न मरेंगे" का अवश्य चिन्तन करेंगे।

अब हम अमर भये न मरेंगे
मर्यो अनत बार बिन समझ्यो
अब सुख दु ख विसरेंगे
आनदघन प्रभु निपट अक्षर दो
नही समरे सो मरेंगे . अब हम

स्वय को नही समझने के कारण ही मृत्यु होती है। परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करने से उस अमर स्थिति की उपलब्धि हो जाती है। अमर याने देव नही–परमात्मा, भक्त याने आत्मा। भक्त किसी देव पर आधारित नही है, वह स्वतत्र तत्त्व है। इसीलिये जो मृत्यु से पर हो चुके, रागद्वेष से रहित हो चुके उन वीतरागी सच्चिदानद परमात्मा के साथ आत्मा का जो सबध स्थापित कर दे उस स्तोत्र का नाम है भक्तामर स्तोत्र। जो आत्मा को परमात्मा बना देता **है**। प्रत्येक भक्त इस अमर स्थिति को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है। "**त्वामेव सम्यगुपलभ्य**" कहकर यहा सत्त्व और परिणति का अभिषेक करते हैं। तुम्हें प्राप्त करने वाला अमर पद को प्राप्त कर लेता है। आ गई यहा भक्तामर शब्द की व्याख्या। यहा आकर यह शब्द सिद्ध हो जाता है।

"**शिवपदस्य अन्य पथा· न शिव** " कहकर और इसे स्पष्ट कर रहे हैं कि अमर बनने का, मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का, मुक्तिमार्ग का सम्यक् प्रणाम और सम्यक् उपलब्धि से बढ़कर अन्य दूसरा कोई मार्ग '**शिव**·' याने सुखकर/कल्याणकर नही है। परमात्मा को प्रणाम किये बिना उनकी प्राप्ति नही है। और उन्हें प्राप्त किये बिना सारे तप, जप या अन्य सारे ही अनुष्ठानरूप मार्ग अधूरे हैं।

इस अधूरेपन को मिटाने के लिये आचार्य परमात्मा का विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमे सापेक्ष दृष्टिकोणो को लेकर विविध धर्मों मे परमात्मा के लिये प्रयुक्त उनके अनेक वाचक शब्द अभिधेय होते हैं। सभी वाच्य अर्थों से परमात्मा का स्वरूप सहज स्पष्ट है। इसे ही प्रयुक्त करते हुए कहा है–

६ परमात्मा आप अव्यय हो। अव्यय का मतलब क्या होता है? व्यय का मतलब समझेगे तो अव्यय समझ मे आयेगा। व्यय का मतलब होता है खडन, व्यय का मतलब होता है विनाश, व्यय का अर्थ होता है टुकड़ा, व्यय का मतलब होता है नाश और व्यय का मतलब होता है अनित्यता, अशाश्वतता। इन सबसे आप परे हो इसीलिए आप अव्यय हो। आप शाश्वत हो, नित्य हो, ध्रुव हो, अक्षय हो, अविनाशी हो, पूर्ण आत्मस्वरूप को आप उपलब्ध कर चुके हो। आपकी सर्वोपरि विशेषता है कि आप अव्यय की स्थिति को प्राप्त कर चुके हो और आप अव्यय की स्थिति को प्राप्त करा सकते हो।

७ आप विभु हो। विभु का अर्थ क्या होता है? विभु याने व्यापक। आप अपने अनत ज्ञान और दर्शन के द्वारा इस सृष्टि लोक मे व्याप्त हो। इस व्यापक सृष्टि मे रहनेवाला कोई भी जीव आपके ज्ञान और दर्शन का आराधक होगा उसके अन्दर भी आप ज्ञान और दर्शन प्रकट करनेवाले हो। इसीलिये आप व्यापक हो। आप ज्ञान-दर्शन से भी व्यापक हो और प्रत्येक भक्त आत्मा के ज्ञान दर्शन को उजागर करने के कारण अन्त करण मे बसने के कारण आप विभु हो।

८ आप अचिन्त्य हो। हम सभी मिलकर परमात्मा का चिन्तन करेंगे तो भी हम उनका चिन्तन नहीं कर सकते हैं, ऐसे वे अचिन्त्य है। आप अचिन्त्य तो हैं, पर हमारी आत्मा भी अचिन्त्य, अगम्य है इसे आप हम मे प्रकट कर देते हो ऐसा हमारा आपका सवध है।

९ आगे कहा है आप असख्य हैं। सख्यातीत हैं। आपके जिस किसी भी गुण को जिस किसी भी भक्त ने जीवन मे उतार लिया है उसने आपका स्वरूप प्राप्त कर लिया। गुणो के द्वारा अनेक हृदयो मे प्रतिष्ठित होने से आप असख्य हैं।

१० आगे कहते हैं आप आद्य हो। आद्य का मतलव क्या होता है प्रथम। यह आदिनाथ परमात्मा की स्तुति तो है ही। उनका तो मोक्ष हो चुका। अब ये हमारे आद्य कैसे हो सकते हैं? ससार का एक जीव जब मोक्ष मे जाता है तब एक जीव अव्यवहार राशि से निकलकर व्यवहार राशि मे आता है तब से हे परमात्मा! मेरे आत्मविकास की आदि के प्रथम मार्गदर्शक आप हो। साथ ही हे परमात्मा! मेरी भक्ति, प्रीति और अनन्य वात्सल्य के आप ही एक मात्र स्वामी हो। मेरी समस्त आराधना मे, अनुष्ठान मे प्रथम आप हो।

११ उसके बाद कहते हैं आप ब्रह्मा हो। ब्रह्मा उनको कहते हैं जिसने इस सृष्टि का विधान बनाया हो। परमात्मा आप मेरे मोक्ष मार्ग के विधाता हैं। इसीलिए आप मेरे ब्रह्मा हो।

१२ आप ईश्वर हो। ईश्वर किसको कहते हैं जो ऐश्वर्य से युक्त हो। हे परमात्मन्! आप अनत आत्मिक ऐश्वर्य के चिदानद वीतराग स्वरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कर चुके हो और अन्यो को प्राप्त कराने वाले हो।

१३ कहते हैं आप अनत हो। आपका ज्ञान अनन्त है। आपका दर्शन अनन्त है। आपके गुण अनन्त हैं। अनत अनत समृद्धि के आप भडार हो। अनत के हृदय मे प्रतिष्ठित होकर आप अनत स्वरूप हो।

१४ अनगकेतु भी आप हो। परमात्मा विकार से रहित है। और हम विकार से युक्त हैं। हम कभी प्रार्थना की भाषा में कहते हैं–परमात्मा तू महान् है, हम लघु हैं। तू विकारो से रहित है, मै विकार से युक्त हूॅ। क्या मतलब होता है ऐसा कहने का? भक्तामर स्तोत्र कहता है परमात्मा तू विकारो से रहित है और "**त्वामेव सम्यगुपलभ्य**" तू जिसको प्राप्त हो जाता है वह भी विकारो से रहित हो सकता है। यदि कोई साधक चाहता है कि मैं अपने स्वाभाविक स्वरूप को उजागर करू, विकार मुक्त हो जाऊॅ तो परमात्मा का स्मरण कर वह विकार रहित हो सकता है। कल परसो कर्म सगोष्ठी मे भार्गव साहब ने कहा था कि हमारे जैसे ससारी साधुओ को पूछते हैं क्या आप मे विकार उत्पन्न नही होते है? उन पूछनेवालो को मै कहता हूॅ अरे भाई विकारो की साधुओ मे उत्पत्ति तो होती है पर अभिव्यक्ति नही होती। उत्पत्ति होते ही मार देते हैं। अभिव्यक्ति नही होने देते हैं। मै उन्हें आज कहूॅगी कि "**सम्यगुपलभ्य**"–जिस किसी भी साधु को मेरे परमात्मा सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो चुके हैं उनमे विकार उत्पन्न नही हो सकते हैं। जिनकी उत्पत्ति ही नही उनकी अभिव्यक्ति या उन्हें समाप्त करने का प्रश्न ही नही उठता। सासारिक दृष्टिकोण से इस बात की आप नही मानेगे, लेकिन जिसको अनुभूति है वह है और है। इसका कोई निराकरण शायद आपके पास नही हो सकता है। एक बात निश्चित है कि जब बन्दूक मे बारूद या गोली न हो तो उसे कितनी ही बार घुमायी जाय, बजायी जाय पर उससे विस्फोट नही हो सकता है। बाहर का कोई भी पदार्थ व्यक्ति मे विकृति पैदा नही कर सकता। विकार हमारी स्वय की कमजोरी से उत्पन्न हो सकते हैं। निर्विकार परमात्मा जिसको सम्यक् उपलभ्य हो जाते हैं उनमे विकार कभी भी प्रवेश नहीं कर सकते।

१५ अव कहते हैं–योगीश्वर। इसके दो अर्थ होते हैं– जो योगियो के ईश्वर हैं और जो योग के ईश्वर हैं। परमात्मा तो अयोगी केवली गुणस्थान के बाद आगे बढ़े हैं। कोई योग तो उनके रहे नही है फिर योगीश्वर उन्हें यहा क्यो कहा गया है? कहते हैं परमात्मा आप तो अयोगी हो पर जो योग मे रहते हैं उनकी क्या स्थिति है? तो कहते हैं अपने योगो का जिन्होंने गोपन किया मतलव मन-वचन और काया की गुप्ति के जो धारक है हे प्रभु! आप उनके ईश्वर हो।

१६ तीन गुप्ति के धारक तो साधु-साध्वी होते हैं तो क्या आप उन्ही के परमात्मा हो। इनके अतिरिक्त जो भक्त हैं उनका परमात्मा के साथ कैसे सबध होगा?

इसीलिये आगे कहते हैं—"**विदित योगम्**"। विदित योग का क्या मतलब होता है ? जिन्होने तीनो योगो का गोपन नही किया है प्रभु! आप उनके योगो को भी विदित याने जानते हो, जाननेवाले हो। ससार के सभी जीवो के मन वचन और काया के आप ज्ञाता हो, द्रष्टा हो। मै यह समझती हूँ कि परमात्मा के अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन को जिसने स्वीकार लिया है, मान लिया है उसके लिये ससार मे ऐसा कोई एकान्त स्थान नही जहा वह पाप कर सके। उसकी दृष्टि मे हर समय रहेगा कि वीतरागी, अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शी मेरे सर्व योगो को जिसे ससार नही देखता उसे जानते और देखते हैं।

१७ अब कहते हैं आप अनेक हैं। अनेक कैसे ? परमात्मा! अनेकान्त धर्म की प्ररूपणा आपके बिना कौन कर सकता है ? ससार के अनतधर्मी पदार्थों के अनेक स्वरूप के आप ज्ञाता और द्रष्टा हो। हम तो ससार को एक ही Angle से देखते हैं और जिस Angle से देखते हैं उसे उसी Angle से इतना सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि हमारे जैसा विद्वान इस ससार मे कोई नही है। लेकिन परमात्मा के अनेकान्त दर्शन की दृष्टि से देखेगे तो समझेगे कि परमात्मा अनन्त धर्म को एक पदार्थ मे देखते हैं अत एक ही पदार्थ अनेक रूपी, अनेक पर्याय नजर आता है।

दूसरी तरह से अनेक आत्माए परमात्मा स्वरूप हैं। इस प्रकार आप अनेक स्वरूप हैं।

१८ अनेक कहने के बाद उलटा आ गया आप एक हो। अब एक कैसे हो सकते हैं ? आत्मा का उपयोग स्वरूप एक है। यहा आकर हम और परमात्मा एक हैं। अत बिलकुल अभेद हो गया। मेरे और तेरे मे कोई भेद नही है। मेरे और तेरे का भेद टूट रहा है, जैसे द्रव्यरूप से आत्मा का स्वरूप मेरा है वैसा ही द्रव्यरूप से आत्म स्वरूप तेरा है। मेरे और तेरे आत्मस्वरूप मे कोई अन्तर नहीं है।

१९ आप ज्ञान स्वरूप हो। ज्ञानावरणीयादि सर्व कर्मो का क्षय होने से आपके समस्त आत्मप्रदेश विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं।

२० अमलम् याने आप निर्मल हो। अन्त कर दिया है, समाप्त कर दिया है कर्म का मल जिसने ऐसे आप हो।

२१ अब परमात्म स्वरूप को व्याख्यायित करनेवाली तीसरी गाथा का प्रारभ हो रहा है। "**बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्**" में कहते हैं "**विबुधार्चित बुद्धिबोधात्**"। देखिये अब एक मजे की बात कहू आपको। आप अपनी किताब के पन्ने खोलेंगे तो अर्थो के माध्यम से विबुधार्चित शब्द जो पहले भी तीसरे श्लोक मे–"**विबुधार्चित पादपीठ**' रूप में आ चुका है। यहा है '**विबुधार्चित बुद्धिबोधात्**।' **बुद्धया विनाऽपि** की व्याख्या में हमने देखा था बुद्धि का मतलब

स्मृति। बुद्धि का मतलब हमारा अपना स्मरण। कोई कितना ही विद्वान हो लेकिन जिसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है उसके ज्ञान की जैन दर्शन में कोई Valueनहीं है। स्वय का बोध पाने के लिए हमारे तीर्थंकर मनीषी जब तक केवलज्ञान नही होता तब तक मौन रहते हैं और हमारे जैसे पाटे पर बैठकर बोलते रहते हैं। तो **बुद्धिबोधात्** का अर्थ होता है स्वय का बोध हो जाना। और, स्वय का बोध होने के साथ-साथ अब सबध करे **विबुधार्चित** का। बुद्धिबोधात् का मतलब परमात्मा से है परन्तु विबुधार्चित का मतलब किससे है? विबुधार्चित को इस पक्ति मे पाकर हमारे विद्वान महानुभाव अर्थ करते हैं–गणधरो के द्वारा अर्चित, विद्वानो के द्वारा अर्चित।

मै कहती हू तीसरे श्लोक मे आपको यह अर्थ देने मे क्या आपत्ति थी? लेकिन वहा पादपीठ शब्द पडा था इसलिये हमने देव अर्थ कर लिया। मै आपसे पूछती हूँ आप जब परमात्मा के समवसरण मे जाएगे और जिस पादपीठ पर परमात्मा का पैर रहेगा क्या आप उसको नमस्कार नही करेंगे? क्या देव ही करेंगे, मानव नही? क्यो हम विबुध का अर्थ ऐसा करें? बोधिलाभ की प्राप्ति के लिये, सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये जिस किसी ने भी प्रयास किया ऐसे विशिष्ट बुद्धिवाले विबुध होते हैं और उनके द्वारा आप अर्चित हो, पूजित हो। आप स्वय ज्ञान को उपलब्ध हो। इस प्रकार हमारे आपके सम्बन्ध से आप बुद्ध हो।

२२ अब कहते हैं **"त्व शकरोऽसि भुवनत्रय शकरत्वात्"** तीनो भुवन का शकर करने के कारण आप शकर हो। शकर शब्द का अर्थ है शम् करने के कारण आप शकर हो।

सम करते हैं अर्थात् समान करते हैं इसीलिये। सम किसमे करेंगे भक्तो मे ही करेंगे न। जो भक्ति नही करते उनको सम नही करते मै स्पष्ट कहती हू। भक्त को वे सम नही करते तो हम उनको मानते ही क्यो? हम उनको नमस्कार करते ही रहे, करते ही रहे और हमारे नमस्कार का यदि वे स्वीकार नही करते तो हम नमस्कार क्यो करेंगे? हम भक्तामर गाते ही रहे **'त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु'** और हम यह कहते ही रहे **क्षणात् क्षयमुपैति**

तेरी प्रार्थना करने से क्षणभर मे अनन्त पापो का क्षय हो जाता है और फिर भी क्षणमात्र पाप भी यदि सरकता न हो तो हम उनकी स्तुति क्यो करे? हम जिस Challengeसे आगे बढ़ते हैं उसकी हमे यहा सम्पूर्ण खात्री मिलती है, Guaranteeमिलती है कि वे शकर है। सम करते हैं इसलिये शकर होते हैं।

अब हम देखेगे शम् याने जिसे वे करते हैं, वह शम् क्या है? शम् का अर्थ होता है कल्याण, मगल, सुख, शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द। परमात्मा इसके करनेवाले होने से शकर है।

सम का पहला अर्थ उत्पत्ति के अनुसार वे सम मे केवलज्ञान, कल्याण, मगल, सुख, शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द की उत्पत्ति करनेवाले हैं।

शम् का दूसरा अर्थ शमन करना है। शमन करना, समाप्त करना, बुझा देना है। कहते हैं "शमन हो गया रोशनी का याने बुझा दी गई रोशनी या रोशनियाँ बुझ गयी।" परमात्मा किसका शमन करते हैं तो कहते हैं ससार के सारे अमगल का। शकर के बारे मे कहा जाता है समुद्र का जब मथन हुआ था उसमे से जहर और अमृत दोनो निकले थे। वे जहर तो सारा स्वय पी गये और देवो को अमृत बाटा। जो भी भक्त परमात्मा का स्मरण करता है उसके अमगल का नाश हो जाता है।

२३ अब कहते हैं "शिवमार्ग विधे विधानात् धाता असि"–हे परमात्मा। शिवमार्ग याने मोक्षमार्ग की विधि/विधान बताने के कारण आप विधाता भी हो।

२४ अब कहते हैं "त्वम् एव व्यक्त पुरुषोत्तम असि। आप व्यक्त पुरुषोत्तम हो। व्यक्त का मतलब क्या? व्यक्त याने प्रकट होने वाले। हम मे आप प्रकट होते हो, बाहर नहीं, हमारे भीतर। आत्मा में ही परमात्म पद रहा हुआ है। उसे भक्तामर स्तोत्र के द्वारा हम प्रकट करते जाएगे। अत हे परमात्मा। आपका परमात्म तत्त्व प्रकट हो चुका है और आप हम में उसे प्रकट करते हैं।

इस महान स्वरूप को मात्र सुनकर ही आराधना की पूर्णाहुति नही होती हे, इसकी हमे सम्यक् उपलब्धि करनी है। इसका हमे स्वीकार करना है। स्वीकार स्वीय होता हे। स्वय से सबंधित होता है। स्वीकार का सर्वश्रेष्ठ उपाय नमस्कार हे। अध्यात्म की भाषा मे नमस्कार करना शक्ति को निमत्रण देना हे। जो झुकता है, वह पाता है।

नमस्कार कर्तव्य नहीं, भाव है। यदि आपको कोई पूछे कि आप नमस्कार मत्र क्यो बोलते हो? तो आप क्या उत्तर देंगे? मैं जैन हूँ, मेरा कर्तव्य है नमस्कार मत्र बोलने का। मेरा कर्तव्य है नमस्कृत्य को ननस्कार करने का। करना चाहिये इसलिये करता हूँ। बोलना चाहिये इसलिये बोलता हूँ। इस प्रकार करना चाहिये, या करना पडता है इसलिये किया जानेवाला नमस्कार व्यर्थ है। पर, इसका सही उत्तर है–परनात्मा नमस्कृत्य है, मेरा ही स्वरूप है, परम स्वरूप है। नमस्कार करता नहीं, उनको देखकर मुझसे ननस्कार हो जाते हैं। नमस्कार मेरे समर्पण का प्रतीक है। इसीलिये मत्र में 'नमामि अरहताण' नहीं 'नमो अरहताण' है। भावों के साथ व गीली पलकों के साथ नमा हुआ मस्तक ननन है। ऐसे ही नमस्कार से बेडिया टूटती हैं, ऐसे ही ननस्कार से पाप छूटते हैं और ऐसे ही ननस्कार से स्वत्त्व प्रकट होता है। नमस्कार समर्पण का अन्तिम अध्याय है। ऐसे ही भावों के साथ आज हम आचार्यश्री के साथ अपने परन आराध्य को ननस्कार करेंगे।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ!
तुभ्यं नम- क्षितितलामलभूषणाय!
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय!
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय॥ २६॥

नाथ।	–	हे नाथ।
त्रिभुवनार्तिहराय	–	तीनो लोको की पीड़ा-व्यथा-वेदना-कष्ट को हरण करने वाले
तुभ्यम्	–	तुम्हें–तुमको
नम	–	नमस्कार हो
क्षितितलामलभूषणाय	–	पृथ्वी तल के निर्मल-उज्ज्वल अलकार रूप
तुभ्यम्	–	तुम्हें/तुमको
नम	–	नमस्कार हो
त्रिजगत	–	तीन जगत के
परमेश्वराय	–	परम पद मे स्थित अरहत प्रभु
तुभ्यम्	–	तुम्हें/तुमको
नम	–	नमस्कार हो
जिन	–	जिनेश्वर
भवोदधिशोषणाय	–	भवरूपी समुद्र या समुद्र जितने विशाल भवो का शोषण करने वाले
तुभ्यम्	–	तुम्हें/तुमको
नम	–	नमस्कार हो।

हे नाथ! आप तीनो लोको की अर्ति याने पीडा, व्यथा, वेदना, यातनाओ का हर– याने हरण करने वाले हो। कितना बडा चमत्कार। भावपूर्वक नमस्कार से सर्व दु खो का नाश। सिर्फ दु:ख का नाश ही नही करते हैं आप क्षिति के निर्मल अलकार हो। हमारी शोभा हो, सुख और आनद के कारण हो। परम ऐश्वर्य स्वरूप हो और समुद्र जितने विशाल अनेक भवो का शोषण कर सहज सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने वाले हो। ऐसे हे परमात्मा! आपको पुन -पुन नमस्कार हो।

भावपूर्वक इन नमस्कार से परमात्मा के गुण हममे प्रकट होते हैं और दोषो का क्षय होता है। अत कहते हैं–

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं सश्रितो निरवकाशतया मुनीश!
दोषैरुपात्त- विविधाश्रय -जात-गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि॥ २७॥

मुनीश!	–	हे मुनीश्वर!
यदि नाम	–	हमे ऐसा लगता है कि

निरवकाशतया	–	सघनता से, ठसाठस, अवकाश रहित
अशेषै गुणै	–	समग्र गुणो से
त्व सश्रित	–	आप आश्रित हो
अत्र को विस्मय	–	इसमे क्या आश्चर्य है
उपात्तविविधाश्रयजातगर्वै	–	अनेक स्थानो पर आश्रय प्राप्त करने से जिनको गर्व (घमड) हो रहा है ऐसे वे
दोषै	–	दोषो से – अवगुणों से
कदाचित् अपि	–	कोई भी समय – किसी भी समय
स्वप्नान्तरे अपि	–	स्वप्न और प्रतिस्वप्नावस्थाओ मे भी
न ईक्षित असि	–	नही देखे गये हो
(अत्र को विस्मय)	–	तो इसमे क्या आश्चर्य है

परमात्मा के अनन्त गुणों को इस गाथा मे '**निरवकाशतया**' शब्द से व्याख्यायित किये हैं। निरतर रूप सर्वांगव्यापी गुणों को परमात्मा का आश्रय स्थान बताकर परम का परम स्वरूप बताया। दूषणों को बेचारे बताये जो स्वप्न मे भी परमात्मा के पास नही आ सकते हैं। ऊर्ध्वीकरण Sublimation द्वारा आत्मिक गुणो का विकास करने के लिए परमात्मा की हम भी शरण ग्रहण करते हैं।

पूर्ण भावों के साथ किये गये नमस्कार और शरण ग्रहण से आत्मिक वैभव उजागर होता है। परमात्मा के बाह्य वैभव की हम अपने अन्तर् मे प्रतिष्ठा कर आत्म-वैभव कैसे वर्धमान करें, इसके लिये अब हम आगे के श्लोको को "वैभव" नामक प्रवचन से देखेगे।

१५. वैभव

"वैभव" शब्द बडा आकर्षक, मोहक और नैतिक शब्द है। इसके मूल मे "विभु" शब्द निहित है। अधिकाश विभु को भूलकर हम वैभव के जिन आयामो या रूपो की परिकल्पना करते हैं वे मात्र व्यावहारिक स्तर पर-निर्भर हैं। वास्तव मे वैभव को समझने के लिए विभु को समझना आवश्यक है। इतना और अधिक कहू तो वैभव पाने के लिए विभु बनना जरूरी है। विभु बनकर ही वैभव पाया जाता है। ऐसा वैभव जीवन की एक अप्रतिम उपलब्धि है।

मनुष्य अनेक साधनो को जुटाता है और उन जुटाये गये साधनो के द्वारा स्वय के अधिकारो की सुरक्षा चाहता है। ऐसा वैभव बाहर से तो बडा आकर्षक और मनोहर लगता है परन्तु यह आकर्षण सार्वभौम नही हो सकता। सीमाओ मे बॅधा वैभव असीम से कैसे मिलता है? वह आकर्षणो की मर्यादा मे बॅधा हुआ पदार्थो के माध्यम से सयोजन स्थापित करने का प्रयास करता है। सामाजिक मूल्याकनो की सीमा मे बधा मानव इन वैभव के मूल्यो को और महत्वो को मान तो लेता है, स्वीकार भी लेता है परतु सयोजित नही करता है। जिसका सयोजन नही होता, उसकी याचना होती है। याचना की परिस्थिति सदा वैभव से विरुद्ध रही है।

वैभव दो हैं—आन्तरिक और बाह्य। विकसित हुआ आन्तरिक वैभव बाह्य वैभव को प्रकट करता है। सामान्यत बाह्य वैभव निर्मूल्य होता है तथापि आन्तरिक वैभव उस बाह्य वैभव का मूल्याकन भी बढ़ा देता है। परमात्मा के लिए परमात्मपन स्वय मे एक वैभव है। परतु भक्तामर स्तोत्र यह सिद्ध कर देता है कि भक्त के लिए उसकी भक्ति भी एक बहुत बड़ा वैभव है जो परमात्मपने के वैभव से कुछ कम नही है। बाह्य मूल्याकनो के द्वारा आन्तरिक आत्म-वैभव का मूल्याकन नही किया जा सकता है।

प्रारभ के २७ पद्यो द्वारा परमात्मा के आन्तरिक वैभव का विस्तार से वर्णन आ चुका है। अब आनेवाली १० गाथाओ मे परमात्मा के बाह्य वैभव को प्रस्तुत किया जा रहा है। परमात्मा का इस बाह्य वैभव से कोई अर्थ/सम्बन्ध नही है। यह बात भी निश्चित है कि इस बाह्य वैभव से ही परमात्मा को महान मान लेना भक्ति का अधूरापन है।

प्रस्तुत पद्य में वक्तव्य परमात्मा का वैभव प्रातिहार्य के नाम से प्रसिद्ध है। जैन भक्ति परपरा मे इन प्रातिहार्यो को तीर्थंकर परमात्मा के विशेष महिमा-बोधक चिन्हो के रूप मे माने गये हैं। इस महिमा को महत्त्व देकर कई स्थानो पर इनका विशेषण के रूप में भी उपयोग किया गया है जैसे—

तिजयपहुत्त पयासय अट्ठ-महापडिहेरजुत्ताणं- - -

इन अष्टमहाप्रातिहार्यों को परमात्मा की प्रमुख आराधना का प्रतीक मानकर इन्हें विशिष्ट महत्त्व दिया गया है।

इन आठ महाप्रतिहार्यों को क्रमश आठ महाऋद्धि के दाता या प्रतीक भी माना है। जैसे–

१ धृति - धैर्य, २ मति- ३ कीर्ति - प्रतिष्ठा ४ कांति - सर्वत्रप्रियता, ५ बुद्धि-चातुर्य सम्पन्न ६ लक्ष्मी -अर्थ वैभव, ७ मेधा -प्रज्ञा ८ विद्यासाधन - ज्ञान सम्बन्ध।

प्राचीन जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकरों को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही इन्द्र–प्रतिहार आकर अशोकवृक्ष, चामर, छत्र आदि आठ प्रातिहार्यों का निर्माण करते हैं जो नियमित रूप से परमात्मा के साथ रहते हैं। पूर्णज्ञान स्थिति से सम्पन्न परमात्मा का स्तुतिगान करनेवाले आचार्यश्री भी आज इसे पूर्णाभिव्यक्ति देकर भक्तामर स्तोत्र को सजा रहे हैं। गहराई से इनका चिन्तन करने पर अनुभव होता है कि आचार्यश्री देवनिर्मित प्रातिहार्यों को लक्ष्य में रखकर अपने हृदय मे प्रतिष्ठित परमात्मा को नयी चुनौती दे रहे हैं। मैं न तो देव हू और न तो ऐसे प्रातिहार्यों का निर्माण करता हूँ। परतु मेरी तो समस्त चेतनाएँ आपको सदा मौन निमत्रण देती रही हैं। मेरी समस्त आत्मिक अभिव्यक्तियां अपने भावो के माध्यम मे आपका आह्वान करती रही है। भक्ति की चरम सीमा मे भावों का सयोजन पाकर इन देव-निर्मित पौद्‌गलिक प्रातिहार्यों के साथ प्रतिस्पर्धा मे उतर कर स्वीकृति को चुनौती दे रहे हैं–

उच्चैरशोकतरु-सश्रितमुन्मयूख
माभाति रूपममल भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमो-वितान,
बिम्ब रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति॥ २८॥

उच्चै	–	अत्यत ऊँचे
अशोकतरुसश्रितम्	–	अशोक वृक्ष के आश्रय मे विराजमान
उन्मयूखम्	–	ऊपर की ओर देदीप्यमान किरणों को बिखराने वाला ऐसा
भवत	–	आपका
अमलम्-रूपम्	–	निर्मल रूप, उज्ज्वल रूप
स्पष्टोल्लसत् किरणम्	–	स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर चमकती-दमकती हुई दीप्तिमान किरणो वाला
अस्ततमोवितानम्	–	नष्ट कर दिया है समस्त अन्धकार के जाल को जिसने ऐसे

आविष्कार कर भक्तात्मा अत्यन्त घनसमूह श्यामल कर्म समुदाय को आत्मप्रदेशों से निर्जरित करता है। फलत ध्यान के इस बाह्य आलबन द्वारा निज स्वरूप का दर्शन होता है।

भावनाओ के विशाल अशोक वृक्ष की रचना होते ही परमात्मा को प्रतिष्ठित करने का आसन ध्यान-पटल पर आता है और इसे देख आचार्यश्री कहते हैं–

सिहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपु. कनकावदातम्।
बिम्ब वियद्‌विलसदशुलतावितान,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मे ॥२९॥

मणिमयूखशिखाविचित्रे	–	मणियों की किरणो के अग्रभाग से विविध रग वाले
सिहासने	–	सिहासन पर
कनकावदातम्	–	स्वर्ण जैसा सुन्दर
तव वपु	–	तुम्हारा शरीर
तुङ्गोदयाद्रिशिरसि	–	उन्नत उदयाचल के शिखर पर
वियद्‌विलसदशुलतावितानम्	–	जिसकी किरणो का विस्तार आकाश मे शोभायमान हो रहा है (ऐसे)
सहस्ररश्मे	–	सूर्य के
बिम्बम् इव	–	बिम्ब याने मडल के समान
विभ्राजते	–	सुशोभित हो रहा है

सिहासन का वास्तविक अर्थ है उत्कृष्ट विशुद्ध पुण्यासन। वैसे तो परमात्मा अपने निजस्वरूप मे, परम स्वरूप में सदा प्रतिष्ठित रहते हैं। फिर भी यहां एक विशेष सिहासन पर परमात्मा के विराजने का जो वर्णन है यह भक्त के साथ एक विशेष भावात्मक सम्बन्ध की प्रतीक योजना है। भक्ति की स्थिति में प्रत्येक भक्तात्मा का भावमण्डल परमात्मा के विराजने का एक उत्कृष्ट आसन है।

अब हम परमार्थ से इसे देखेगे–मणि याने नाभि और मयूख याने किरणें, शिखा याने अग्रभाग विचित्रे याने विविध। –परमार्थ से इन शब्दों की व्याख्या से अभिप्राय है–मणिपूर चक्र जो नाभि मे स्थित है वहा से भावो की विविध विशेष किरणें प्रस्फुटित होकर ऊपर की ओर आरोहण करती हैं। इन किरणों का अग्रभाग हृदय को छूता हुआ पूरी चेतना मे फैल जाता है। ऐसा यह भक्ति भाव का सिहासन जो नाभि मे स्थित है उस पर भक्तात्मा परमात्मा को प्रतिष्ठित करता है।

अब और आगे बढ़े–कहते है–हे परमात्मा! ऐसे इस भावासन पर आपके विराजने से मेरा नाभिमडल रूप सिहासन अत्यन्त सुशोभित हो रहा है। अब यहाँ से उठने वाली विविध भावनाओ वाली किरणो की शिखा आपमय होकर सपूर्ण चेतना मे व्याप्त हो रही है। प्रभु! सम्पूर्ण आत्मप्रदेश पवित्र हो रहे हैं।

सिहासन पर परमात्मा के प्रतिष्ठित होते ही उन पर शुभ्र चॅवर ढुलाये जाते हैं। मानस चक्षुओ द्वारा इन चॅवरो का ध्यान आते ही मुनिश्री के मुह से निकला–

कुन्दावदात-चलचामर-चारु-शोभ,
विभ्राजते तव वपु· कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क-शुचिनिर्झर-वारिधार-
मुच्चैस्तट सुरगिरेरिव शातकौम्भम्॥३०॥

कुन्दावदात-चलचामर-चारुशोभम्	–	कुन्द नामक पुष्प के समान अत्यन्त शुभ्र ढुरते हुए चॅवरो के कारण सुशोभित
कलधौतकान्तम्	–	स्वर्ण के समान कान्तिवाला
तव वपु	–	आपका शरीर
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्	–	उदीयमान चन्द्रमा के समान धवल शुभ्र-श्वेत जलप्रपात की धारा जहा गिर रही है ऐसे
सुरगिरे	–	सुमेरु पर्वत के
शातकौम्भम्	–	स्वर्णिम्
उच्चैस्तटम्	–	उन्नत तटो के समान
विभ्राजते	–	शोभा देता है।

हे परमात्मा! आपका स्वर्णिम देह ढुरते हुए चमरो से उसी भॉति शोभा दे रहा है जैसे स्वर्णमय सुमेरु पर्वत पर दो निर्मल जल के झरने झर रहे है।

परमात्मा! आपकी आत्मा मे परम शात आनद का एक झरना निरन्तर बह रहा है। उस अखड स्रोत मे मेरी समस्त भाव रश्मिया आत्म विभोर हो रही हैं। हे परम स्वरूप! आज अत्यन्त भावपूर्ण शुभ्र भावयुक्त नमस्कार-रूप चँवर ढुला रहा हूॅ। तेरे चरणो मे झुककर भावों की गहराई मे उतरता हूँ और पुन ऊपर उठकर अपने उच्च शुद्ध निजस्वरूप का दर्शन करता हूॅ।

चमर के साथ ही देदीप्यमान तीन छत्रो के द्वारा परमात्मा के तीनो जगत के प्रति रहे परमेश्वरत्व को प्रकट किया जा रहा है–

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।

मुक्ताफल-प्रकरजाल-विवृद्धशोभ,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥ ३१॥

शशाङ्ककान्तम्	–	चन्द्रमा के समान उज्ज्वल
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्	–	मणि मुक्ताओं के समूह की झालरो से बढ़ गई है शोभा जिसकी ऐसे
तव उच्चै. स्थितम्	–	आपके ऊपर स्थित
स्थगितभानुकरप्रतापम्	–	रोक दिया है सूर्य की किरणों का आतप जिन्होने ऐसे
छत्रत्रयम्	–	(एक के ऊपर एक क्रमश) तीन छत्र
त्रिजगत	–	तीनों लोको के
परमेश्वरत्वम्	–	परमेश्वरपने को
प्रख्यापयत्	–	प्रख्यात करते हुए, प्रकट करते हुए
विभाति	–	शोभायमान हो रहे हैं।

हे परमात्मा! अंतरिक्ष मे रहे निरालबी तीन छत्र के दर्शन होते ही मेरा भव-ताप समाप्त हो रहा है। आपकी परम शात मुद्रा को अत करण में धारण कर प्रभु भक्ति के आवेश में अपने मन-वचन और काया के तीन छत्र बनाकर तीनों योगों द्वारा तेरा विशुद्ध अयोग दर्शन पा रहा हूँ। ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रत्नत्रय रूप मिली तेरे पावन सौगात स्वरूप छत्रत्रय प्रभु मेरे परम सौभाग्य का अवसर है।

छत्रत्रय मे परमात्मा की स्थापना होते ही स्वरूप ध्यान की एकाग्रता मे परमात्मा की जयघोषणा का एक दुन्दुभिनाद उठता है–

गम्भीरताररवपूरित-दिग्विभाग-
स्त्रैलोक्यलोक-शुभसङ्गम-भूतिदक्षः।
सद्धर्मराजजय-घोषण-घोषक सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी॥ ३२॥

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग	–	गम्भीर-धीरोदात्त-मधुर ध्वनि से गुजायमान दिग्मण्डल जिसने ऐसा ...
त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्ष	–	तीनों लोकों के प्राणियों को सत्समागम (शुभ-सम्मेलन) का वैभव प्राप्त कराने में समर्थ, ऐसा .
सद्धर्मराजजयघोषणघोषक	–	सद्धर्मराज याने तीर्थङ्कर देवों का जय-जयकार की उद्घोषणा करता हुआ

गन्धोदबिन्दु-शुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिव पतति ते वचसा ततिर्वा ॥३३॥

गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता	–	सुगंधित जल की बूँदो से युक्त एव सुखद मन्द-मन्द पवन के झोको के साथ गिरनेवाली
उद्धा	–	ऊर्ध्वमुखी–ऊपर को मुख है जिसका ऐसी
दिव्या	–	देवलोकोत्पन्न, पारमार्थिकी
मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात सन्तानकादिकुसुमोत्कर वृष्टि	–	मदार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात तथा सन्तानक आदि वृक्षो के फूलो की वर्षा
दिव	–	आकाश से
पतति	–	गिरती है
वा	–	अथवा/मानो
ते	–	आपके
वचसां	–	वचनो की
तति	–	पंक्ति हो
पतति	–	फैलती है

हे परमात्मा! मानो आपके वचनो की साक्षात् पंक्ति रूप दिव्य फूलो की निरन्तर वर्षा होती है। यह वर्षा शीतल-मन्द-सुगध समीर के साथ महक फैलाती है।

भक्त द्वारा श्रद्धा के फूल परमात्मा के चरणो मे चढ़ाने से उसकी आत्मा का आवरण हटता है और तुरन्त ही ऊर्ध्वलोक की विशेष वृक्षावली से सम्बन्धित वे फूल आत्मलोक के वास्तविक फूल बनकर वास्तविकता प्रकट करते हैं, आत्मिक गुण बढ़ाते हैं।

जैसे–उद्धा शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ऊर्ध्वमुखी। ऊर्ध्वमुखी याने समवसरण मे जो फूल बरसते हैं उनके डठल नीचे (अधोमुखी) रहते हैं। अत्यत परमार्थ से भरा यह उद्धा शब्द भव्य जीवो का प्रतीक है। समवसरण मे आनेवाले भक्तात्मा फूलवत् हैं। जो भी आता है ऊर्ध्वगामी-स्थिति को पा जाता है। पतित भी पावन होता है। इस प्रकार प्रत्येक चेतन आत्मा के विकास का अभियान यह "उद्धा" शब्द है।

हे परमात्मा! इन विशेष पुष्पों को प्राप्त करनेवाला सचमुच भाग्यशाली है। परमात्मा! तू देवाधिदेव तरु है। तेरे वाणी रूप पुष्पो के साथ इन दैवीय फूलों की तुलना कर मुझ में पारमार्थिक फूलो का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे–

	दैवीय फूल	वाणी पुष्प
१	सुदर-मनोहर	माधुर्य-प्रसाद गुण युक्त

प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तर-भूरि-सख्या
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम्॥ ३४॥

प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसख्या	–	प्रकृष्ट रूप से एक साथ ही पास-पास उदय होने वाले अनेक सूर्यों के समान
ते विभो	–	हे प्रभो! तुम्हारे
शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा	–	नितान्त शोभनीक प्रभा-मण्डल (भा-कान्ति, उसका मण्डल–गोलाकार–वह भामण्डल) की अतिशय जगमगाती हुई ज्योति
लोकत्रयद्युतिमताम्	–	तीनो लोको के सभी दीप्तिमान पदार्थों की
द्युतिम्	–	द्युति को
अक्षिपन्ती	–	पराजित/निरस्त करती हुई।
सोमसौम्या अपि	–	चन्द्रमा सदृश सौम्य-शीतल होने पर भी
दीप्त्या	–	अपनी कान्ति से
निशाम् अपि	–	रात्रि को भी
जयति	–	जीतती है।

• अनेक सूर्यों के समान तेजस्वी, फिर भी उष्णता, प्रचण्डता और आतप से सर्वथा रहित ऐसे भामण्डल की प्रभा का निखार इसमे प्रस्तुत किया है। भामण्डल के लिए यहाँ प्रभावलय शब्द का प्रयोग किया है।

यह भामडल किसी धातु विशेष से निर्मित नही होता है। यह पौद्गलिक तैजस् शरीर का स्वरूप है। सूक्ष्मतम तैजस् वर्गणाओ से यह निर्मित होता है।

वस्तुत यह व्यक्ति की समस्त भावधारा की समायोजना का एक रूप है परतु इसे विशेष और सामान्य तौर पर दो भागो मे विभाजित किया जाता है।

Occult Science के अनुसार भा-मण्डल [Halo] यह महान व्यक्तियो के सिर के पीछे गोलाकार में पीले रग के चक्र जैसा होता है। तीर्थंकरो का प्रभावलय उनकी परम औदारिक अनुपम देह से निकलती हुई कैवल्यरश्मियो का वर्तुलाकार मडल है। उनकी दिव्यप्रभा के आगे कोटि कोटि सूर्यों का प्रभाव भी हतप्रभ हो जाता है। सामान्य व्यक्तियो मे यह इतना तेजस्वी और पीले रग मे चक्राकार रूप नही होता है। सामान्य व्यक्तियो के पीछे पायी जानेवाली भावधारा को आभा-मडल [Aura] कहते हैं। यह सबल और निर्बल दो तरह का होता है। जिनका चरित्र अच्छा हो, जिनका आत्मबल अधिक हो उनका Aura (आभामडल) सबल और जिसकी नैतिक भावधारा हीन हो उसका आभामडल [Aura] निर्बल होता है। यह व्यक्ति की भावधारा का प्रतीक है।

सामान्य व्यक्तियो का आभामडल परिवर्तनशील होता है। यह भावधारा नित्य बदलती रहती है। व्यक्ति की भावधारा मे यह परिवर्तन आकर्षण-विकर्षण के कारण होता है। बाह्य तत्त्वो के प्रभाव मे व्यक्ति अपनी नियत भावधारा मे नही रहता है। सृष्टि के तत्त्व सतत उसकी भावधारा पर सक्रमण कर उसे विचलित करते रहते हैं।

असामान्य और निर्मल भावधारावाले व्यक्तियो पर अशुद्ध वायुमडल का सक्रमण नही होता है। यह अपने आप मे इतना सशक्त होता है कि यह अन्य भावधारा से प्रभावित नही होता, बल्कि यह अधिक बलवान होकर स्वय अन्यो को अपने से प्रभावित भी करता है। सम्पूर्ण वायुमडल को तरगित कर रूपातरित करता है। यही कारण है कि महापुरुषो का सान्निध्य हमे अल्फा तरगो से प्रभावित कर प्रसन्नता प्रदान करता है। इसमे से निकलती हुई तैजस्-रश्मिया अलौकिक और शान्त होती हैं।

एक ऐसी भी मान्यता है कि तीर्थंकरो के भामडल की निर्मल प्रतिच्छाया मे भव्यात्मा अपने पूर्वजन्म के तीन भव वर्तमान का एक और आगामी जन्म के तीन भव ऐसे सात भवो को देख सकता है।

नित्य उदित सृष्टि के सूर्य की किरणे विशेष काच मे सन्निहित कर लेने पर उस पर Solar Rays (सूर्य किरणे) ऊर्जा के रूप मे तरगित होकर आज अनेक कार्यों मे प्रगतिमय विकास का रूप ले रही है। तीर्थकरो का भामडल चैतन्य ऊर्जा से आदोलित होता है। अत इसके दर्शन से हमारी आवृत चेतनाशक्ति का शुद्ध मतिज्ञान श्रुतज्ञान के रूप मे अनावृत होकर विशुद्ध जातिस्मृति ज्ञान के रूप मे फलितार्थ होना सहज है।

भामण्डल के चिन्तन मे लीन आचार्यश्री को अचानक दिव्यध्वनि की सघन गर्जना सुनायी देती है और वे कहते हैं–

स्वर्गापवर्ग-गममार्ग-विमार्गणेष्ट
सद्धर्म-तत्त्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्या.।
दिव्यध्वनि-र्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभाव-परिणाम-गुणै प्रयोज्य.॥ ३५॥

स्वर्ग	–	देवलोक
अपवर्ग	–	निर्वाण लोक को
गममार्ग	–	जाने के लिए
विमार्गणेष्ट	–	बताने मे अभीष्ट–सहायक
त्रिलोक्या	–	तीनो लोको को
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटु	–	सम्यक् धर्म के तत्त्वो के कथन करने मे निपुण
विशद्	–	विस्तृत, स्पष्ट

अर्थ	–	पदार्थों (द्रव्य गुण पर्याय और उनके भाव) को बताने मे सक्षम तथा
सर्वभाषा	–	सभी भाषाओ के
स्वभाव	–	गुण को
परिणाम	–	परिणत होने के
गुणै		गुणो से
प्रयोज्य	–	युक्त
ते	–	आपकी
दिव्यध्वनि	–	अलौकिक वाणी
भवति	–	होती है।

अनादिकालीन वासना, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभयोग, अनध्यवसाय, सशयादि का सर्वथा नाश करने मे समर्थ परमात्मा की दिव्यवाणी भव्यजीवो के भवसमाहार का सबल साधन है। मालकोष राग मे दी जानेवाली इस देशना मे सर्व जीवसृष्टि की रक्षा सन्दर्भित रहती है। इसीलिये प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है–

सव्वजगजीव-रक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभविय आगमेसिभद्दं सुद्ध णेयाउय अकुडिल अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणविउसमण–

यह प्रवचन भगवान ने जगत् के समस्त जीवो की रक्षा–दया के लिए समीचीन रूप मे कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोक–आगामी जन्मो मे शुद्ध फल के रूप मे परिणत होने से भव्य है तथा भविष्यत् काल मे भी कल्याणकर है–निर्दोष है और दोषों से मुक्त रखनेवाला है, न्याययुक्त है, अकुटिल है, अनुत्तर-सर्वोत्तम है तथा समस्त दु खो और पापों को उपशान्त करनेवाला है।

देव-देविया, मनुष्य-स्त्री-पुरुष या अन्य जो भी जीव परमात्मा की देशना मे आते हैं उन सर्व की अपनी-अपनी भाषा और भावो मे यह तद्रूप परिणत होती जाती है। यह देशना अर्द्धमागधी मे होने पर भी १८ लौकिक भाषा और ७०० लघु-भाषाओ मे आसानी से सयोजित हो जाती है।

पहले तो लोग इस तथ्य में आशकित होते थे परतु आज भी यू एन ओ मे कोई भाषण होता है तो वह अपने आप पाच भाषाओ मे अनुवादित हो जाता है।

१ रशियन २ अग्रेजी ३ जर्मन ४ चाइनिश ५ फ्रेच

देशना की सर्वोपरि विशेषता यही है कि यह सदा समस्त तत्त्वो और तत्त्वो के अर्थों से गर्भित रहती हैं।

दिव्यध्वनि मे स्पंदित भक्त के मानस चक्षुओ मे दैवीय सुवर्णकमल का अवतरण होता है–

उन्निद्रहेमनवपङ्कज–पुञ्जकान्ति
पर्युल्लसन्नख मयूख-शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

जिनेन्द्र!	–	हे जिनेन्द्र!
उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुजकान्ति	–	ताजे खिले हुए सुवर्ण कमल के समूह के समान सुन्दर कान्ति को धारण करने वाले
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ	–	सब ओर तरगित नखो की कान्तिमान किरणो की अग्रभागीय आभा से मनोहर
तव पादौ	–	आपके युगल चरण
यत्र	–	जहाँ
पदानि	–	कदम
धत्त	–	रखे जाते हैं
तत्र	–	वहाँ
विबुधा	–	देव-समुदाय
पद्मानि	–	कमलो को
परिकल्पयन्ति	–	रचते जाते हैं, विकुर्वित करते जाते हैं।

समवसरण की धर्मसभा मे देव समुदाय–विकुर्वित खिले हुए नूतन स्वर्ण-कमलो की रचना करते हैं। अनन्त चतुष्टय के स्वामी, चौतीस अतिशयो से युक्त, अष्ट महाप्रतिहार्य ओर नव केवल लब्धियो के धनी अरिहत परमात्मा स्वर्ण-कमलो पर चरण रखकर पधारते हैं। वीतरागता से व्याप्त सम्पूर्ण वातावरण परमात्मा के पधारने से परमानन्दमय हो जाता है। सहजात्मस्वरूप की अतरग और बाह्य विभूति तीनो लोको के जीवो के आकर्षण का एकमात्र आधार बन जाती है। भाव विभोर युक्त तरगो से लहराते विशुद्ध वायुमडल मे ऊर्ध्व गुरुत्वाकर्षण के स्पदन धर्म सत्ता की महाघोषणा फैला रहे हैं। पवित्र पर्यावरण आत्मप्रदेशो मे कपन फैलाकर समस्त चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाता है।

विबुधा शब्द पुन हमारा ध्यान देव से भक्तो की तरफ जोड़ देता है और भक्तात्मा परमात्मा से कहता है क्या देव-विकुर्वित सुवर्ण-कमलो पर पद-न्यास कर समवसरण मे पधारोगे? ये कमल तो विशेष समय मे विकुर्वित होते हैं परतु हे परमात्मा! मेरा हृदय-कमल नित्य नवोदित, सदा मुदित, भावो से सतत विकसित, भक्ति से विलसित है और सदा-सर्वदा तेरे चरणो मे समर्पित है। प्रभु! पधारो न इस हृदय-कमल मे। विकुर्वित कमल जड़ है और मेरा हृदय-कमल चैतन्यगुण सपन्न है।

३२	दुदुभि	बुद्धि-चातुर्य-दक्षता	अनाहत नाद
३३	पुष्पवृष्टि	लक्ष्मी	श्रद्धा-भक्ति
३४	प्रभामण्डल	मेधा-प्रज्ञा	
३५	दिव्यध्वनि	विद्या	समर्पण-परिवर्तन
३६	सुवर्णकमल	समस्त ऋद्धि-सिद्धि	हृदय मे प्रतिष्ठा

■

अब आगे के १0 श्लोक कर्म से सम्बन्धित है। इनमे प्रथम ९ पद्य मुख्य हैं , जिनमे कर्म के दो विभाग बहुत ही स्पष्टत व्याख्यायित किये गये हैं। कर्म दो प्रकार के है–घाति और अघाति।

आत्मगुणो का जो घात करते हैं वे घातिकर्म हैं। ये आत्मा के गुणो का आवरण करते हैं, आत्मा के बल-वीर्य को रोकते हैं, आत्मा को विह्वल करते हैं। इन सारे कारणो को लेकर इन कर्मो को घातिकर्म कहते हैं। आठ कर्मो मे ये घातिकर्म चार हैं–

१ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय

३ मोहनीय और ४ अतराय।

घातिकर्म क्षय करने मे सरलता रहती है। अत इन्हो रोका जा सकता है, हटाया या क्षय किया जा सकता है।

जैसे ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से पाठ याद नही होता है परन्तु इसे दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौसठ या सौ बार रटने से ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम अथवा क्षय होने से याद हो जाता है। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का भी होता है। प्रयत्न से इसे आंशिक रूप मे रोककर पूर्णत खपाया जा सकता है।

यद्यपि मोहनीय कर्म अत्यन्त बलवान् है परन्तु फिर भी वह जैसी तीव्रता से आता है वैसी तीव्रता से हट भी सकता है। इत इसे भोला भी माना जा सकता है।

अतराय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होने से उससे प्रवर्त्तन होता है, वीर्य प्रकट होता है। वीर्य के दो प्रकार हैं–

१ अभिसंधि और २ अनभिसधि।

अभिसधि याने आत्मा की प्रेरणा से वीर्य का प्रवर्त्तन और अनभिसधि याने कषाय से वीर्य का प्रवर्त्तन।

ज्ञान का कार्य जानना है, दर्शन का कार्य देखना है और वीर्य का कार्य प्रवर्त्तमान होना है। ज्ञान दर्शन मे भूल नही होती है परन्तु उदयभाव मे रहे हुए दर्शनमोह के कारण भूल होने से भ्रान्ति के कारण सब गलत प्रतीत होता है। इसी कारण वीर्य भी विपरीत रूप परिणत होता है। यदि सम्यक्रूप मे परिणमन हो तो आत्मा सिद्ध पर्याय को पाता है। जब तक योग है, आत्मा अपनी वीर्यशक्ति से निरतर परिणमन करता रहता है। इसीलिये ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतराय ये तीन प्रकृति उपशमभाव मे नही हो सकती हैं, क्षयोपशमभाव मे ही होती हैं। यदि ये प्रकृति उपशमभाव मे होती तो आत्मा जड़वत् ही रहती।

इनमे अन्तराय को क्षायिकभाव की दृष्टि से देखने पर अनतवीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। (इसमे अवान्तर चार लब्धिया और मानी जाती हैं परन्तु वे सब इसी वीर्यलब्धि मे शामिल हैं) वीर्य के प्राप्त होने पर आत्मा उन लब्धियो का उपयोग पुद्‌गल द्रव्यरूप

परिणमित करने में समर्थ है फिर भी कृतकृत्य ऐसे परम पुरुष में सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव होने पर उसका उपयोग असभव है। उपदेशादि के दानरूप उनकी प्रवृत्ति पूर्वबध के उदयमान परिणामों से योगाश्रित होती है।

पद्यों के दो विभाग हैं–प्रथम विभाग में कथित चार श्लोक इन चार घातिकर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और शेष पाच पद्य अघातिकर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। घातिकर्म मे प्रधान मोहनीयकर्म है और अघातिकर्म में प्रधान वेदनीय कर्म है। इन दोनो कर्मों का प्रतिनिधित्व कर यह घाति अघाति का भेद स्पष्ट करता है।

प्रथम विभाग में बताया गया है कि परमात्मा का नाम स्मरण करने से आने वाले उपसर्ग रुक जाते हैं और शेष पाच पद्यों मे कहा है कि आने वाले उपसर्गों से परमात्मा का स्मरण पार उतार देता है। यहाँ जो अन्तर है वही घाति अघाति का स्पष्टीकरण है। घातिकर्म आत्मा जब चाहे तब तोड़ सकता है, रोक सकता है। घातिकर्म देहस्पर्शी ही नहीं आत्मस्पर्शी भी होते हैं। प्रथम चार उपसर्गों में भय बताया जाएगा जो आत्मा के भावों का स्पर्श करता है। जब कि शेष श्लोकों में सग्राम, वाडवाग्नि, रोग, जजीर बधन ये शरीरस्पर्शी हैं। ये वेदनाप्रधान हैं। अघातिकर्म भोगने ही पड़ते हैं। ये न तो सर्वथा रोके जाते हैं और न इनका सर्वथा क्षय होता है।

अघातिकर्म में वेदनीय मुख्य है और अन्य आयुष्य, नाम और गोत्र भी इसमें सम्मिलित हैं। यहाँ अब इन कर्मों का स्वरूप विभिन्न प्रतीको के माध्यम से बताया जाएगा। और वे श्लोक सर्व कर्मों के प्रतीक बन, कर्मक्षय के उपाय प्रस्तुत कर मोक्षमार्ग का नेतृत्व करेंगे।

समस्त घातिकर्म का नेतृत्व करते हुए एक मदोन्मत्त हाथी को काम, मान और अन्तरायकर्म का प्रतीक बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं–

श्च्योतन्मदाविल-विलोल-कपोलमूल
मत्तभ्रमद् भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्।
ऐरावताभमिभमुद्धत-मापतन्त,
दृष्ट्वा भय भवति नो भवदाश्रितानाम्॥३८॥

भवदाश्रितानाम्	–	आपके शरणागत पुरुषों को
श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्	–	झरते हुए मद-जल से जिसके गण्डस्थल (गण्ड प्रदेश) मलीन हो रहे हैं और जिन पर मँडराते हुए चचल-मत्त भौंरे अपने गुञ्जन से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं ऐसे
ऐरावताभम्	–	ऐरावत हाथी के समान आकार वाले
उद्धतम्	–	उद्दण्ड, अवश

क्रमयुगाचलसंश्रितम्	–	दोनो चरणरूपी पर्वत के आश्रित (भक्त) पर
न आक्रामति	–	आक्रमण नही करता।

मोह कर्मराज है। सर्व कर्मों का नेतृत्व उसके हाथो मे है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय ज्ञान-दर्शन पर आवरण का काम करते हैं। अतराय कर्म का कार्य आवरण करना नही है। यह आत्मा के गुणो का आवरण नही करता पर यह आत्मा के वीर्य-बल को रोकता है। ये तीन आत्मघाती प्रकृतिया हैं। मोहनीय भी घाती प्रकृति है। यह न तो आवरण लाती है, न कुछ रोकती है। इसका कार्य है विह्वल करना, व्याकुल करना, मूर्च्छित करना।

हे परमात्मा ! बद्धक्रम याने छलाग मारने के लिये उद्यत ऐसा मोह का प्रतीक रूप सिह जो काम और मान के प्रतीक सम हाथी पर अपना नेतृत्व करता है। ऐसा यह मोह रूप सिह भी आपके आश्रित भक्त पर आक्रमण नही करता है। जैसे सिह छलाग मारता है वैसे ही आपके अनाश्रित ऐसे मुझ पर यह मोह-कर्म शांति मे छलांग मारकर मुझे हतप्रभ करता रहा है।

निश्चय दृष्टि से आपके प्रति रहा हुआ राग भी वीतराग भाव मे त्यजनीय है, फिर भी हे परमात्मा ! तेरे प्रति रहा हुआ प्रशस्त राग मेरे लिए परम साधन है। राग केशरी सिह है। वनराज सिह सदा भय का प्रतीक रहा, परन्तु वही सिह जब सर्कस का सिह बना लिया जाता है। तब वह रिग मास्टर के इशारे पर कार्यक्षम रहकर अत्यधिक कमाई भी करा देता है। नाश करने वाला सिह कार्य कुशलता से अर्थ सहयोग का साधन बन जाता है। वैसे ही हे प्रभु ! राग भी सिह है। वह ससार मे तो भयानक है पर अध्यात्म क्षेत्र मे वही सिद्धि सहयोग का परम कारण बन जाता है।

इसी प्रकार कषायो मे क्रोध को सिह की उपमा दी गई है। सिह की गणना सौम्य प्राणियो मे नही है। वह क्रूर और घातकी प्राणी माना जाता है। क्रोध के उदयभाव मे व्यक्ति की आकृति भी प्रकृति के अनुसार उत्तेजित, उग्र और क्रूर-सी हो जाती है।

मैं अनादिकाल से कर्म मोहनीय से आबद्ध हूँ। प्रभु ! आज तेरे चरणो का आश्रय ग्रहण करने से अब वह मुझ पर आक्रमण नही कर सकता।

ऐसा सोचते हुए आचार्यश्री को ससार की भयानक माया को पराजित करने की इच्छा होती है, वे कहते हैं–

कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-वन्हि-कल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्॥४०॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवन्हिकल्पम्	–	प्रलयकाल की महावायु के तेज थपेड़ों से उत्तेजित हुई आग के समान

ज्वलितम्	–	जलती हुई
उज्ज्वलम्	–	रक्तवर्णी/लालिमा युक्त
उत्स्फुलिङ्गम्	–	चारों ओर ऊपर को उठती हुई चिनगारियों वाली
अशेषम् विश्वम्	–	सारे ससार को
जिघत्सुम् इव	–	नाश करने/खा जाने की इच्छुक ऐसी
सम्मुखम्	–	सामने–समक्ष में
आपतन्तम्	–	आती हुई
दावानलम्	–	दावाग्नि को–जगली आग को
त्वन्नामकीर्तनजलम्	–	आपके नाम का कीर्तन (स्मरण) रूपी जल
(अशेषम्)	–	(सम्पूर्ण रूप से)
शमयति	–	शान्त कर देता है–बुझा देता है।

दावानल के अति बीभत्स रूप को प्रतीक बनाकर यहाँ माया को चित्रित किया गया है। समस्त ससार को अपनी लपेट मे लेकर यह सर्वनाश की द्योतक है। माया समस्त कषायो मे साथ रहती है। आत्मा के सहज स्वाभाविक रूप को यह आवृत करती है।

यह दावाग्नि दर्शनावरणीय कर्म का भी प्रतीक है। जैसे दर्शनावरणीय कर्म यथास्थिति को समझने नहीं देता है वैसे ही दावाग्नि अपनी प्रचडता मे फैलकर, व्यापकता मे उद्धत होकर वास्तविकता से वंचित कर देती है। इसकी विकरालता, घातिकर्म की उन्मत्तता से एकरूपता दिखाती है।

फिर भी परमात्मा के स्मरण रूप जल से यह दावाग्नि रूप माया निष्फल हो जाती है। शान्त हो जाती है।

आगे कहते हैं–

रक्तेक्षण समद-कोकिल-कण्ठनील,
क्रोधोद्धत फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नाम-नागदमनी हृदि यस्य पुस.॥४१॥

यस्य	–	जिस (के)
पुस	–	मनुष्य के
हृदि	–	हृदय में

त्वन्नामनागदमनी	–	आपके नाम रूपी नागदमनी (है वह मनुष्य)
निरस्तशङ्क	–	शका रहित होता हुआ
रक्तेक्षणम्	–	लाल ऑखो वाले
समदकोकिलकण्ठनीलम्	–	उन्मत्त कोयल के कण्ठ के समान काले
क्रोधोद्धतम्	–	क्रोध से उद्धत
आपतन्तम्	–	सामने आते हुए
उत्फणम्	–	ऊपर की ओर फन उठाये हुए
फणिनम्	–	सर्प को
क्रमयुगेन	–	दोनो पैरो से
आक्रामति	–	लॉघ जाता है।

एक विशेष सर्प से हम आतकित हैं, पीडित हैं। जब तक वह सर्प वश मे नही होगा हर समय उसके द्वारा डसने की भय/आशका बनी रहती है। साधना के लिये कदम बढ़ाते साधक को यह कैसी विचित्र चुनौती है? यह तो मार्ग मे फन उठाये बैठा है। उसका उल्लघन कैसे सभव हो सकता है?

नागदमनी होती है जो सर्प को वश मे करती है, उसका दमन करती है। यह एक जडी विशेष है। परमात्मा का नाम एक ऐसी नागदमनी है जो ज्ञानावरणीय जैसे विकराल फणिधर को भी वश मे कर लेती है। परमात्मा के नाम-स्मरण से साधक इस भय का उल्लघन कर अपना पथ प्रशस्त कर सकता है।

सर्प क्रोध और लोभ का भी प्रतीक है। सामान्यत ऐसा माना जाता है कि जिनकी धनादि मे अधिक मूर्च्छा होती है वे मरकर सर्प होते हैं। पूर्वकाल मे कई ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमे धनादि के स्थान पर सर्प कुडली मारकर बैठा रहता है और उसे किसी को भी नही छूने देता है।

इसी प्रकार यह क्रोध का भी प्रतीक माना है। स्पष्टत प्रस्तुत श्लोक मे सर्प वर्णन मे क्रोधी व्यक्ति को चित्रित किया हुआ भी पा सकते हैं। चडकौशिक सर्प के आख्यान मे इसे पूर्वजन्म में तापस होने और क्रोध में मृत्यु हो जाने पर सर्प होने की कथा भी लोक प्रचलित है।

सर्प चाहे क्रोध का, चाहे लोभ का, चाहे ज्ञानावरणीय कर्म का प्रतीक मानें पर यह निश्चित है कि परमात्मा के नाम स्मरण से हम इसे उल्लघ सकते हैं।

इस प्रकार मोहनीय कर्मप्रधान घातिकर्म का वर्णन यहॉ समाप्त होता है।

घातिकर्मों के सम्पूर्ण नाश की इस प्रक्रिया के बाद अब आचार्यश्री कहते हैं कि अपराजेय कर्मरूपी शत्रु अवश्य ही दुर्जेय है परन्तु परमात्मा का स्मरण इन पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। इसका समाहार करते हुए कहते हैं–

वल्गत्तुरङ्ग-गजगर्जित-भीमनाद-
माजौ बल बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूख-शिखापविद्ध,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२ ॥

आजौ	–	सग्राम मे, युद्ध स्थल मे
त्वत्कीर्तनात्	–	आपके कीर्तन से (आपके गुणो के स्मरण से)
वल्गतुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्	–	हेषारव करते हुए, उछलते हुए घोडो और गर्जना करते हुए हाथियो की भयकर आवाज हो रही है जिसमे ऐसी
बलवताम्	–	पराक्रमी-शक्तिशाली सेनाओ से युक्त
अरिभूपतीनाम्	–	शत्रु राजाओ की
बलम्	–	सेना
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्	–	उदीयमान दिवाकर की किरणो के अग्रभाग से भेदे गये
तम इव	–	अन्धकार के सदृश
आशु	–	शीघ्र ही
भिदाम् उपैति	–	विनाश को प्राप्त होती है।

हे परमात्मा ! जैसे सूर्योदय होते ही घने अन्धकार का शीघ्र ही नाश हो जाता है उसी प्रकार आपके स्मरण से, गुण कीर्तन से, अपराजेय ऐसे कर्मरूपी शत्रुओ का सर्वथा नाश हो जाता है। यहाँ शत्रु कर्म का प्रतीक है।

घातिकर्म रोके जाते हैं, उनका क्षय होता है, परन्तु अघाति कर्म मे ऐसे कोई उपाय सभव नहीं हैं। इनको अनिवार्य रूप से उदय मे आने पर भोगने पड़ते हैं। यहाँ पर प्रस्तुत चार श्लोक वेदनीयादि अघाति कर्म के प्रतीक हैं। इनमें और उपरोक्त श्लोकों मे यही अन्तर है। ऊपर में कहा गया है कि प्रभु के नाम स्मरण से उपसर्ग रोके जा सकते हैं, प्रस्तुत पद्यों में बताया है कि उपसर्ग के समय में कुछ समय तक परमात्मा में लीन रहने से इन उपसर्गों को पार किये जा सकते हैं।

जैसे घातिकर्मों का प्रतिनिधित्व मोहनीयकर्म करता है वैसे ही अघाति कर्मों का प्रतिनिधित्व वेदनीय कर्म करता है। इसकी स्पष्ट झलक अब हम आगे के पद्यों में पायेंगे–

कुन्ताग्रभिन्न गजशोणित-वारिवाह,
वेगावतार-तरणातुरयोध-भीमे।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिण·	–	आपके चरण रूपी कमलवन का सहारा लेने वाले
कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारि-वाहवेगावताररतरणातुरयोधभीमे	–	बरछी व भालो के नुकीले अग्रभाग से भेदित, क्षत-विक्षत हाथियो के रक्त रूपी जल प्रवाह मे वेग से–तेजी से उतरकर आगे बढ़ने मे उतावले ऐसे योद्धाओ से भयकर
युद्धे	–	युद्ध मे
विजितदुर्जयजेयपक्षाः	–	कठिनता से जीता जा सके ऐसे शत्रु पक्ष को जीत लिया है जिन्होने ऐसे
जयम् लभन्ते	–	जय को प्राप्त होते हैं। (विजय प्राप्त करते हैं।)

इस श्लोक मे वेदनीयकर्म मे असातावेदनीय को अत्यत ही स्पष्ट रूप से चरितार्थ करते हुए इस पर विजय प्राप्त करने मे परमात्मा के चरण कमलो के माध्यम से शरण-ग्रहण की विशिष्टता बतायी है।

इस श्लोक की सर्वोपरि विशिष्टता यह है कि इसमे परमात्मा के चरणो को एक-दो कमल के उपमान से नही अपितु सम्पूर्ण कमलवन की उपमा से उपमित किया है। जीवन सग्राम है, युद्धभूमि है। यहॉ सातत्य रूप से निरन्तर युद्ध चल रहे हैं। राग और द्वेष के प्रतीक समान युद्ध से सम्बन्धित ये दोनो श्लोक राग द्वेष के महायुद्ध से बचने का परम उपाय वीतराग के चरणो में नमस्कार और शरण ग्रहण रूप बताते हैं।

आगे कहते हैं–

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषण-नक्र-चक्र-
पाठीनपीठ-भयदोल्वण-वाडवाग्नौ।
रङ्गत्तरङ्ग-शिखरस्थित-यानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

भवत.	–	आपके
स्मरणात्	–	स्मरण करने से

अम्भोनिधौ	–	समुद्र में
क्षुभित	–	क्षोभ को प्राप्त
भीषण	–	भयानक ऐसे
नक्र	–	नगर मच्छ घड़ियालों का
चक्र	–	समूह तथा
पाठीन	–	मीनकाय मछलियें
पीठ	–	विशिष्ट प्रकार के मत्स्यो से
भयद्	–	भयकर (तथा)
उल्वण	–	प्रकट
वाडवाग्नि	–	वडवानल से युक्त
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा	–	उछलती-लहराती ऊपर नीचे को होती हुई लहरो के शिखर पर डगमगा रहे, विचलित हो रहे हैं जहाज जिनके ऐसे पुरुष
त्रास	–	आकस्मिक भय को
विहाय	–	छोडकर
व्रजन्ति	–	आगे बढते चले जाते हैं।

यह श्लोक गोत्र कर्म का प्रतीक है। ससार रूपी समुद्र मे जीवन रूपी जहाज अपने गन्तव्य स्थान पर जाने के लिये बडी तीव्रता से गति को साधकर प्रगति करता है परन्तु इस महायात्रा के मध्य में गोत्र कर्म की ऊँची नीची तरगे उठकर कभी मान-अपमान या आकर्षण-घृणा की भावनाओं से उत्पन्न विषय वासना रूप मत्स्य से टकराता है। इस टकराव से कारण भवजन्य दुर्भावना की वाडवाग्नि उत्पन्न होती रहती है।

एक वैज्ञानिक तथ्य है कि पानी मे भी आग उत्पन्न हो सकती है। बिजली दो प्रकार की होती हैं–

१ धनात्मक और २ ऋणात्मक।

पानी से भरे मेघ जब आपस में टकराते हैं तो उसमे रही दोनो तरगो मे सघर्ष होने से बिजली पैदा होती है।

मनुष्य का सिर विद्युत् का धनात्मक केन्द्र है और पैर ऋणात्मक केन्द्र है। सृष्टि मे उत्तरी ध्रुव मे धनात्मक बिजली अधिक है और दक्षिण मे ऋणात्मक बिजली अधिक है। यही कारण है दक्षिण की ओर पैर करके और उत्तर की ओर सिर रखकर सोने व्यक्तियों को हृदय तथा मस्तिष्क की बीमारियॉ अधिक होती हैं। बिजली का नियम

यदि एक ही प्रकार की बिजली आमने सामने आती है तो एक दूसरे से मिलती नही पर अलग होकर हटना चाहती है और यदि परस्पर विरोध वाली हो तो दौड़कर मिलना चाहती है। यदि मनुष्य का सिर दक्षिण की ओर है तो सिर की धनात्मक विद्युत् तरगे और दक्षिणी ध्रुव की ऋणात्मक विद्युत् तरगे एक दूसरे से समायोजन स्थापित कर मिलती हैं। परन्तु, यदि मनुष्य का सिर उत्तर मे हो तो सिर का धनात्मक ग्रहण और उत्तर दिशा की धनात्मक बिजली तरगे हट जाएँगी, परिणामत व्यक्ति रोगो से ग्रस्त हो सकता है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ मृत्यु के समय व्यक्ति को उत्तर की ओर सिर कर भूमि पर लेटाया जाता है। ऐसा करने से प्राण सुगमता से निकलते हैं। जब बिजली की गति पर हो जाती है तब वह भूमि मे शीघ्र उतर जाती है। भूमि बिजली को त्वरा से अपनी ओर खीच लेती है।

राग और द्वेष इन बिजली तरगो की तरह आमने सामने आकर एक दूसरे मे सामजस्य स्थापित कर लेते हैं। इससे हमारे वीतराग भाव बलात् विस्थापित हो जाते हैं। यह टकराव भयकर है इससे दुर्भावनाओ की वाडवाग्नि उत्पन्न होती है जो सर्वनाश का खतरा बन जाती है। आत्मा रूपी यात्री वीतराग का स्मरण कर इसे पार कर सकता है।

आगे कहते हैं–

उद्भूतभीषण-जलोदर-भारभुग्ना ,
शोच्या दशामुपगताश्च्युतजीविताशा ।
त्वत्पाद-पङ्कज-रजोऽमृतदिग्धदेहा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा ॥४५॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना	–	उत्पन्न हुए भयकर 'जलोदर' के भार से या वजन से झुके हुए
शोच्याम्	–	शोचनीय (चितायुक्त)
दशाम्	–	अवस्था को
उपगता	–	प्राप्त
च्युतजीविताशा	–	जिन्होने जीवन की आशा छोड़ दी हो ऐसे
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा	–	(और) आपके पाद-पद्मो की रज (धूलि) रूपी अमृत से लिप्त कर लिया है अपने शरीर को जिन्होंने ऐसे
मर्त्या	–	मनुष्य
मकरध्वजतुल्यरूपा	–	कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले
भवन्ति	–	हो जाते हैं।

यदि एक ही प्रकार की बिजली आमने सामने आती है तो एक दूसरे से मिलती नही पर अलग होकर हटना चाहती है और यदि परस्पर विरोध वाली हो तो दौड़कर मिलना चाहती है। यदि मनुष्य का सिर दक्षिण की ओर है तो सिर की धनात्मक विद्युत् तरगे और दक्षिणी ध्रुव की ऋणात्मक विद्युत् तरगे एक दूसरे से समायोजन स्थापित कर मिलती हैं। परन्तु, यदि मनुष्य का सिर उत्तर मे हो तो सिर का धनात्मक ग्रहण और उत्तर दिशा की धनात्मक बिजली तरगे हट जाएँगी, परिणामत व्यक्ति रोगो से ग्रस्त हो सकता है।

यही कारण है कि हमारे यहॉ मृत्यु के समय व्यक्ति को उत्तर की ओर सिर कर भूमि पर लेटाया जाता है। ऐसा करने से प्राण सुगमता से निकलते हैं। जब बिजली की गति पर हो जाती है तब वह भूमि मे शीघ्र उतर जाती है। भूमि बिजली को त्वरा से अपनी ओर खीच लेती है।

राग और द्वेष इन बिजली तरगो की तरह आमने सामने आकर एक दूसरे मे सामजस्य स्थापित कर लेते हैं। इससे हमारे वीतराग भाव बलात् विस्थापित हो जाते हैं। यह टकराव भयकर है इससे दुर्भावनाओ की वाडवाग्नि उत्पन्न होती है जो सर्वनाश का खतरा बन जाती है। आत्मा रूपी यात्री वीतराग का स्मरण कर इसे पार कर सकता है।

आगे कहते हैं–

उद्भूतभीषण-जलोदर-भारभुग्ना ,
शोच्या दशामुपगताश्च्युतजीविताशा ।
त्वत्पाद-पङ्कज-रजोऽमृतदिग्धदेहा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा ॥४५॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना	–	उत्पन्न हुए भयकर 'जलोदर' के भार से या वजन से झुके हुए
शोच्याम्	–	शोचनीय (चितायुक्त)
दशाम्	–	अवस्था को
उपगता	–	प्राप्त
च्युतजीविताशा	–	जिन्होने जीवन की आशा छोड़ दी हो ऐसे
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा	–	(और) आपके पाद-पद्मो की रज (धूलि) रूपी अमृत से लिप्त कर लिया है अपने शरीर को जिन्होने ऐसे
मर्त्या	–	मनुष्य
मकरध्वजतुल्यरूपा	–	कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले
भवन्ति	–	हो जाते हैं।

जीवन की आशा आयुष्य कर्म है। अघाति कर्मों ने इसे भी स्थान दिया है क्योंकि यह भी मोक्ष मे बाधक होता है। यहाँ वेदनीय की प्रधानता मे जीवन मृत्यु का रहस्य बताकर रोग-मुक्ति का उपाय परमात्मा के चरणों को बताया है। प्रत्येक रोगो का मूलाधार पेट माना जाता है अत यहाँ इसकी प्रधानता मे निरोगिता यानी कर्म रहितता की अवस्था-प्राप्ति की सफलता दर्शायी है।

साथ ही इसमे जलोदर से अतिरिक्त दो और भी अवस्थाएं चित्रित की है–

१ शोच्या दशामुपगता –यानी किसी भी चिन्ता की अवस्था को प्राप्त और

२ च्युतजीविताशा–जिसके जीने की आशा समाप्त हो चुकी है ऐसा भी मानव।

प्रथम जलोदर से दैहिक रोग मे, दूसरे मे मानसिक रोग से और तीसरे मे जीवन से सम्बन्धित समस्या मे भी परमात्मा का स्मरण एक विशेष समाधान की दिशा प्रदान करता है।

अब अंतराय कर्म की प्रधानता का परिलक्षित करते हुए कहा है –

आपादकण्ठ-मुरुशृङ्खल-वेष्टिताङ्गा,
गाढ वृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घा ।
त्वन्नाममन्त्रमनिश मनुजा स्मरन्त ,
सद्य स्वय विगतवन्धभया भवन्ति ॥४६॥

आपादकण्टम्	–	(पैरो) से लेकर (गले) तक
उरुशृखलवेष्टितागा	–	लम्बी चौड़ी बड़ी-बड़ी दृढ़ साकलो से–जजीरो से जकड़ दिया है शरीर का अग-अग जिनका ऐसे,
गाढम्	–	खूब अधिक मजबूत रूप से
वृहन्निगडकोटिनिघृष्टजघा	–	बड़ी-बड़ी बेड़ियो तथा लौह शृङ्खलाओ के अग्रभाग से–किनारो से रगड़ कर छिल गई हैं जघाये जिनकी ऐसे
मनुजा	–	मनुष्य
त्वन्नाममन्त्रम्	–	आपके नाम रूपी मन्त्र को
अनिशम्	–	निरन्तर (सतत-अन्तराल रहित-अनवरत)
स्मरन्त	–	स्मरण करते हुए (जपते हुए)
सद्य	–	तत्काल-अति शीघ्र
स्वयम्	–	अपने आप–खुद-ब-खुद
विगतवन्धभया	–	बन्धन के भय से सर्वथा रहित
भवन्ति	–	हो जाते हैं।

प्रस्तुत पद्य नामकर्म की प्रधानता के साथ सर्वकर्म से जुडा हो, ऐसा लगता है। नामकर्म विशाल है इसकी प्रकृतियॉ अनेक हैं। यही हमारी देहजन्य निर्माणशैली का कारण है। इसे Creative कर्म माना जाता है। आपका स्मरण करने वाला इस कर्म से सर्वथा रहित हो जाता है।

अब उपरोक्त सर्व कर्मों का सयोजन स्थापित करने वाला पद्य है–

मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
सग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भय भियेव,
यस्तावक स्तवमिम मतिमानधीते ॥४७॥

य	–	जो
मतिमान्	–	बुद्धिमान (प्रज्ञावान पुरुष)
तावकम्	–	आपके,
इमम्	–	इस
स्तवम्	–	स्तोत्र को,
अधीते	–	पढ़ता है,
तस्य	–	उसका
मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-सग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्	–	मदोन्मत्त हाथी, सिह, दावाग्नि, सर्प, सग्राम, सागर, जलोदर तथा बन्धन से उत्पन्न हुआ
भयं	–	भय
भिया	–	भयभीत होकर
इव	–	मानो
आशु	–	शीघ्र ही
नाशम् उपयाति	–	विनाश को प्राप्त करता है

आत्मा इस स्तोत्र के पढ़ने से और आपके प्रति श्रद्धावान होने से सर्वथा ससार-भय से और कर्म से मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से यहा कुल ९ उपसर्गों का वर्णन है। जो इस प्रकार विभक्त किये जा सकते हैं–

१	हाथी	तिर्यंच सम्बन्धी
२	सिह	” ”

३	दावाग्नि	नैसर्गिक
४	सर्प	तिर्यच सम्बन्धी
५	युद्ध	मनुष्य सम्बन्धी
६	युद्ध	" "
७	वाडवाग्नि	नैसर्गिक
८	जलोदर	कर्मकृत
९	बंधन	कर्मकृत

इस विभाजन से यहा तिर्यंचकृत तीन, मनुष्यकृत दो, कर्मकृत दो और निसर्गकृत दो–कुल नौ उपसर्ग हैं जो अन्य अनेक उपसर्गों का प्रतिनिधित्व कर अपने मे समाहित कर लेते हैं।

परमात्मा के शरण ग्रहण मे इन उपसर्गों का सहज शमन हो जाता है। शरण-ग्रहण समर्पण-प्रधान होता है अत अब समर्पण विषय के द्वारा अन्तिम श्लोक को आचार्यश्री के अनुग्रह से अनावृत करने का प्रयास करेंगे।

१७. समर्पण

अध्यात्म पथ पर समर्पण साधना की नीव है। समर्पण हृदय की एक विशिष्ट दशा है जो आत्मा को परमात्मा से, मुमुक्षु को तत्त्वज्ञान से, योगी को योग से, सयमी को सयम से, भक्त को भगवान से, तुच्छ को महान से अभिन्न कर देती है अत समर्पण वास्तविक साधना का एक मात्र अनन्य साधन है।

समर्पण के सम्बन्ध मे सोचने पर प्रश्न होता है कि किसके प्रति समर्पण की यह बात है? क्या ससार के प्राणियो ने कभी किसी को समर्पण नही किया है? यदि किया है तो उसने क्या पाया? और इस समर्पण के बाद भी कौनसा अभाव लगा जो आचार्यश्री भक्तामर स्तोत्र के द्वारा हम मे इसका सद्भाव जगा रहे हैं?

इन सारे प्रश्नो का समाधान पाने के लिए प्रथम हमे यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि समर्पण तो प्रत्येक जीव अनेक बार करते रहे हैं। परन्तु यह समर्पण योग्य तत्वो के प्रति नही रहा, अत समर्पण के पात्र, समर्पण के तत्व नित्य परिवर्तित होते रहे।

यहाँ आचार्यश्री परम तत्त्व के साथ समर्पण की बात कर रहे हैं। परमात्मा से समर्पण करने का अर्थ होता है अपने आप को समर्पण होना। आत्मा की सबसे बडी गल्ती मात्र एक ही है कि उसने अपने आपका विश्वास खोकर ससार के अनेक व्यक्ति और पदार्थो को वह समर्पित होता रहा।

अपने आपको खोकर बहुत कुछ प्राप्त करना, इससे बडी भूल और कौनसी हो सकती है? अपने आप पर विश्वास नही करने से अपने कर्तव्य पर भी विश्वास नही रहता। कर्तव्य का विश्वास खोने से जो भी किया जाता है वे सारे कर्तव्य के नाम पर चलने वाले अकर्तव्य ही तो रहेगे।

इसी कारण महापुरुषो की दृष्टि मे घटनाएँ हमे बहुत कुछ सिखा देती हैं कि ससार की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर विश्वास करना बहुत बडी भूल है। इसी भूल के कारण शुद्ध सहज चैतन्य स्वरूप आत्मा इस अनादिरूप ससार मे परिभ्रमण करता है। स्वय की नित्य स्वतत्र सत्ता का भान होने पर भ्रम रहता है। भ्रम के टूटने पर व्यक्ति स्वय से जुड़ जाता है। क्योंकि किसी का टूटना किसी से जुड़ जाना होता है, किसी का न होना किसी का होना हो जाता है।

परम सत्ता के प्रति समर्पित होता है तो वह समर्पण ऐसे ही नही होता है। इसमे इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करना होता है। सृष्टि मे, घटनाओ मे जैसा होता है, उसे सहर्ष स्वीकार कर प्रसन्न रहने का अभ्यास करना ही परम सत्ता के प्रति समर्पित होना है।

भक्तामर स्तोत्र का अन्तिम श्लोक समर्पण का परम अध्याय है। साधना का यह आखिरी दाव है। चेतना के विकास की अन्तिम परिणति है।

इस अन्तिम श्लोक के प्रारभ के पूर्व, आचार्यश्री के साधना की प्राणतरगों से ऊर्जान्वित अग पर लटकती ४७ वेड़ी के वन्धन टूट चुके हैं। अटूट ऐसी आत्मनिष्ठा सफलता के चरम शिखर तक पहुँच चुकी है। परम पवित्र देहपर्याय म से नि गृत अत्यत पावन भाव तरगे सम्पूर्ण वायुमडल को विशुद्ध वना रही हैं।

यहाँ पर मनीषियो को इस आनदमय वातावरण मे नया चिन्तन, नया वल और नयी शक्ति मिलती है। उन्होने राजा से कहा–महाराज ! चुनौती का अवसर है। आप अपनी इस कोतूहलप्रिय जनता को मुनिश्री की अन्तिम वेड़ी खोलने का अवसर द। यदि कोई महानुभाव विना शस्त्र, विना स्पर्श, मात्र अपनी साधना के वल पर मुनिश्री की इस अन्तिम वेडी को खोलना चाहता हो तो आप उन्हे आदेश प्रदान करें।

राजा को भी विद्वानों की यह वात पसन्द आयी। इसी आधार पर किसी आचार्यन्हे साधक का पता चलेगा। किसी से भी यदि चुनौती वरदान वन जाय ऐसा सोचकर उन्होंने उद्घोषणा की। सिर्फ कुछ क्षणो का अवसर दिया गया। परन्तु जनसभा मे से कोई भी इस चुनौती को झेलने का साहस नही जुटा पाया। लज्जित वने हुए राजा ने विद्वज्जनों से इसकी असमर्थता प्रकट करते हुए आचार्यश्री को ही वेड़ी खोलने का निवेदन प्रस्तुत किया।

यहाँ कर्मों के निर्मूलन के महान उपायो को आत्मसात् करते हुए आचार्यश्री पूर्ण प्रसन्नता की मुद्रा मे विराजमान ह और उनके भीतर से प्रस्फुटित होता ह–

स्तोत्रस्रज तव जिनेन्द्र ! गुणेर्निवद्धा,
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्र-पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्र,
त 'मानतुङ्ग'मवशा समुपैति लक्ष्मी ॥४८॥

जिनेन्द्र !	–	हे जिनेन्द्र!
इह	–	इस विश्व मे
य जन	–	जो मनुष्य
भक्त्या	–	भक्ति पूर्वक
मया	–	मेरे द्वारा
तव	–	आपके
गुणै	–	प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणो से/धागो से

निबद्धा	बनायी हुई	गूँथी हुई
रुचिर वर्ण .	मनोज्ञ अक्षरो वाले, अलकारो से युक्त	सुन्दर-सुन्दर रग विरगे पुष्पो से युक्त
कठगता धत्ते	भावपूर्वक जपता है	कठ मे धारण करता है अथवा पहनता है
मानतुगम्	आचार्य मानतुग का नाम निर्देश वाचक शब्द भक्त को	ऊँचे सन्मान वाले
लक्ष्मी	मोक्ष लक्ष्मी	पुण्य-वेभव अभ्युदय

प्रस्तुत श्लोक मे प्रयुक्त शब्द विशेष का पूर्व श्लोको के साथ वड़ा रहस्यमय सम्वन्ध हे

१ जिनेन्द्र शब्द का सम्बोधन प्रारभ मे श्लोक २, ३६ और ३७ मे आया है। पहले मे सम्बन्ध जोडकर ३६ मे चरण कमल के वर्णन मे और ३७ मे परमात्मा के वाह्य वैभव की पूर्णाहुति मे प्रयुक्त है।

२ मया शब्द श्लोक २ के अह से जुड़ा हुआ है। प्रारभ की भूमिका मे जो अह, अह (Ego) का प्रतीक था वह श्लोक ८ मे "मया" बन गया। वही "मया" यहाँ अतिम गाथा मे दर्शाया है कि में नही करता हूँ परन्तु आपकी परम भक्ति से यह मेरे द्वारा हो जाता है।

भक्त की ऑखे वद हैं। भावो मे समर्पण है। मुद्रा प्रसन्न है। मस्तक झुका हुआ हे। परमात्मा ने कहा—वत्स ! बोल तुझे क्या चाहिये ?

भक्त ने कहा—

सर्व जीवों का कल्याण हो,
सर्व जीव मोक्ष को प्राप्त हों,
सर्व भक्त अमर पद को प्राप्त करें।

आचार्यश्री स्वय को उपसर्ग रहित स्थिति मे अनुभूत कर कायोत्सर्ग पालकर खड़े होते हैं। जयनिनादो से राजधानी गूँज उठती है। सम्पूर्ण वायुमडल विशुद्ध बन जाता है। जय घोषणाओ के नाद विश्रुत और व्यापक होते हैं।

परमात्मा आदिनाथ की जय!
मुनिश्री मानतुगाचार्य की जय!
जिन शासन की जय!

विशाल भक्त समुदाय के साथ आचार्यश्री स्वस्थान लौटते हैं। यहां राजा लहियो (प्रतिलिपिकारों) से सारी ताड़पत्रिया इकट्ठी कर स्वस्थान लौटते हैं। गुप्तमंत्री के साथ कक्ष में प्रवेश कर दरवाजा बंद करते हैं। मंत्री से बेड़ियां पहनकर फिर सामने स्तोत्र रखकर बोलते हैं–

भक्तामर-प्रणतमौलि-मणिप्रभाणा–
मुद्योतकं दलित-पापतमो-वितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्-मयतत्त्वबोधा-
दुद्भुत-बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्त-हरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥

मैंने पहले भी कहा था कि उपासना के तीन प्रकार माने जाते हैं–

१ प्रतिस्पर्धा	–	Competition
२ पुनरावृत्ति	–	Repetition
३ भक्ति	–	समर्पण (Dedication)

एक बहू दूसरी बहू से कहती है–सास बड़ी लड़ती थी पर स्तोत्र पाठ से वश मे हो गयी।

ये सारा Repetition है। इसमे हम स्तोत्र के रचयिता को repeat करते हैं। स्तोत्र के आराधक को Repeat करते हैं। ओर कभी Slip हो गये वो? तो कहेंगे भक्तामर स्तोत्र सही नही है। ये सारी कल्पनाये हैं। यही है न हमारा Mensuration या certification?

Dedication मे अभिभावक अकेला है। वह भक्त है क्योंकि उसके हृदय मे भक्ति है। वह दूसरो को नही देखता है कि कोई चला या नही? कोई पहुँचा या नही? इस सम्वन्ध मे उसे न तो कौतूहल है और न सशय है। वह पूरे आत्मविश्वास के साथ आगे वढ़ता है– परमात्मा मेरे हैं, उन्हें मुझे ही पाना है। मुझ मे ही प्रकट करना है। यह मेरा अपना ही रूप है, स्वरूप है। यह है समर्पण, भक्ति।

किसी मॉ से यह पूछो, तुम अपने वेटे को इतना प्यार क्यो करती हो ओर वह यदि यह कहे कि यह तो मेरा फर्ज है तो उसका मातृत्व अधूरा है। पर यदि वह यह कहे कि मेरे हृदय मे मातृत्व है, मै प्यार करती नही मेरे से हो जाता है तो वह वात्सल्य है। यह मा का अपने वच्चे के प्रति Dedication है।

जहॉ भक्त का Dedication है वहाँ परमात्मा का Radiation है। जहॉ भाव है, वहॉ प्रभाव है।

हमारी स्थिति ऐसी है कि हम सद्‌गुरु की कृपा का, परमात्मा के अनुग्रह का और स्तोत्र का प्रभाव तो चाहते हैं परन्तु हम मे समर्पण के कोई भाव नहीं रहते हैं।

यहॉ राजा भी Repetition कर रहा था। मुनि कौन हैं? उनके परमात्मा कैसे हैं? स्तोत्र क्या है या स्तोत्र का मूल्याकन क्या है? ऐसा कुछ भी नही समझने वाला नरपति स्तोत्र को उसी प्रकार Repeat करता है। जैसे Cassette Recorder मे Cassette repeat होती रहती है। इसीलिये कहा है–

"स्तोत्रार्थ स्तोत्र चैतन्य यो न जानाति तत्त्वत ,
शतलक्षजपतोऽपि स्तोत्रसिद्धिं न ऋच्छति।"

स्तोत्र चैतन्य जव तक न प्रकट हो वह सिर्फ स्तोत्र है। स्तोत्र को, स्तोत्र के चैतन्य को जो तत्त्व से नही जानता है उसे उसका करोडो की सख्या मे जाप करने पर भी पूर्ण फल नही मिलता है।

भाषावर्गणा से अधिक सूक्ष्म श्वासोश्वास वर्गणा है परन्तु मनोवर्गणा तो श्वासोश्वास वर्गणा से भी अधिक सूक्ष्म है और मनोवर्गणा से भी अधिक सूक्ष्म कर्मवर्गणाए हैं। उनके क्षयोपशम से अतर्मुखी वृत्ति प्रकट होती है। सम्यग्‌दर्शन प्रकट होता है। उसी नाम है स्तोत्र चैतन्य। तभी अप्रकट प्रकट होता है। अतीन्द्रिय की अनुभूति होती है।

ताडपत्रो पर टूटे-फूटे अक्षरो मे लिखे स्तोत्र को लेकर पढ़ते हुए राजा की ऑखे खुली हैं, मन मे कौतूहल है। पर कोई बेडी नही टूटी। बडा रज हुआ। सारी बेडिया खोलकर उठ खड़ा हुआ। राजसैनिक को भेजकर मनीषी वर्ग को बुलाया। उनसे कहा--तुम्हारे मुनि की यह monopoly नही चलेगी। यही श्लोक उन्होने गाया। तो कीलबन्ध बेडियॉ टूटती गयी और मेरे तो बिना कील की बेड़ियॉ भी नही टूटी।

प्रत्युत्पन्नमति विपश्चितो ने कहा--महाराज ! मुनिश्री की बेडी के बधन टूटने मे स्तोत्र के साथ उनकी भक्ति और भक्ति के आराध्य परमात्मा का प्रभाव था। राजन्! आराधना तीन तरह की होती है--

१ प्रतिस्पर्धाजन्य

२ पुनरावृत्तिजन्य और

३ भक्तिजन्य।

राजन्! आपमे पुनरावृत्ति है, भक्ति नही। पुनरावृत्ति से कभी साधना नही फलती है।

इस वार्तालाप से राजा को अपनी गलती महसूस हुई और वे समर्पण के लिये तैयार हुए। श्रद्धा और भक्ति से नम्र बने राजा के साथ विद्वद्वर्ग उपाश्रय पहुँचता है, परन्तु सयोग से उपसर्गजन्य स्थान से आहार नही लेने की धारणा से आचार्यश्री वहॉ से विहार कर पधार गये थे। आगन्तुक बहुत खिन्न होते हैं। यह कैसा मेरा और नगरवासियो का हीनभाग्य। मुनिश्री को कितनी उमग से लाया था। यहॉ आकर भी एक पानी की बूँद या आहार कण लिये बिना ही वे पधार गये। वे निराश होकर, हताश होकर वही पर बैठ अश्रु बहाते हैं। अन्त मे राजा के आग्रह से दोनो रथारूढ होकर जिस दिशा मे आचार्यश्री विहार कर पधारे थे उस दिशा मे प्रस्थान करते हैं। कुछ दूरी पर पहुँच रहे आचार्यश्री की सेवा मे राजा नतमस्तक होकर अपने अपराध की क्षमा मागता है। पश्चात्ताप से अश्रुसिक्त होकर आचार्यश्री के चरणो का प्रक्षालन करता है। पूर्ण समर्पण के भावो के साथ नतमस्तक राजा के मस्तक पर आचार्यश्री ने हाथ रख कर कहा--

तुम्हारा कल्याण हो!

तुम्हारा साधना पथ प्रशस्त हो!

तुम शीघ्र ही भक्त होकर भगवान बन जाओ!

समर्पित राजा ने आचार्यश्री से अर्थपूर्ण भक्तामर-स्तोत्र को सुना और इसी प्रकार स्तोत्र का रहस्य जानने की अभ्यर्थना व्यक्त की। आचार्यश्री ने भक्तामर स्तोत्र का पूर्ण रहस्य समझा कर उन्हें प्रथम नवकार मत्र का दान कर बाद मे स्तोत्रारभ कराया।

भक्तामर-प्रणतमौलि-मणिप्रभाणा-

मुद्द्योतक दलित्-पापतमो-वितानम्।

सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बन भवजले पतता जनानाम् ॥

य सस्तुत सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभि सुरलोकनाथै ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्त-हरैरुदारै ,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथम जिनेन्द्रम्॥

बोलो परम स्वरूप को प्राप्त-
आदिनाथ भगवान की जय!
हमारे परमार्थ के परम प्रेरणा स्वरूप सद्गुरुदेव
मुनिश्री मानतुगाचार्य की जय!
स्वय प्रभावित-
जिन शासन की जय!

ॐ शांति शांति शांति——

प्रश्न १–'भक्तामर स्तोत्र और आधुनिक विज्ञान' इस विषय के आपके प्रवचन से ध्वनि द्वारा बेडियाँ टूटने के वैज्ञानिक सिद्धान्त को तो सुना, परन्तु यह ध्वनि विज्ञान हमारी ऊर्जा को कैसे तरगित कर सकता है? यह समझना चाहता हूँ।

उत्तर–भक्तामर स्तोत्र २६८८ अक्षरो का स्तोत्र है। ये सारे अक्षर यौगिक अक्षर हैं। यौगिक अक्षर अणु और परमाणु से भी वहुत अधिक सूक्ष्म होते हैं। अणु और परमाणु से भी बढ़कर कार्य यौगिक अक्षरो से बनने के प्रमाणो से हमारा वैभव भरा अतीत साक्षी है। ऐसे तो शब्द जड द्रव्य है, परन्तु उन जड़ अक्षरो को जब महायोगी अपनी प्राणचेतना के द्वारा ध्वनि प्रकम्पनो को अपनी विशिष्ट विद्युतीय शक्ति तरगो से आपूरित करते हैं, तव वे यौगिक अक्षर मत्र या स्तोत्र बन जाते हैं। ऐसे मत्र और स्तोत्र सृष्टि के रहस्य, चमत्कार या अन्य ऐसे ही कई रूपो मे समायोजित हो जाते हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि ध्वनि प्रकम्पनों से भरी हुई है। इन कम्पनो को Frequency कहते हैं। विद्युत चुम्बकीय तरग Electro-Magnetıc Radıatıon युक्त कम्पनो से ही सृष्टि का वातावरण समायोजित रहता है। ये तरगे दो प्रकार की होती हैं–

१ अनुदैर्ध्य और २ अनुप्रस्थ।

इनमे केवल अनुप्रस्थ तरगो का ध्रुवण हो सकता है।

ध्वनि के कम्पनो द्वारा विद्युत धारा मे उसी आवृत्ति तथा रूप के कपन उत्पन्न करने के यत्र को Mıcrophone कहते हैं। इन विद्युत् कपनो की प्रबलता के उपकरण को प्रवर्धक कहते हैं। इस प्रवर्धित धारा के द्वारा पुन ध्वनि उत्पादन करने के यत्र को Telephone कहते हैं। इन यत्रो के द्वारा क्षीण ध्वनि भी हजारो Mıle तक सुनाई देती है। ध्वनि के इस सचरण मे समय बहुत ही कम लगता है, क्योंकि यह ध्वनि के रूप मे गमन नही करती बल्कि विद्युतधारा के रूप मे और रेडियो तरगो के रूप मे प्रकाश के वेग से स्थानातरित होती हैं। ऐसी ही पुनरुत्पादित ध्वनि की प्रबलता वाले यत्र को Loud speaker कहते हैं।

ये ध्वनि दो तरह की होती है–

१ अक्षरात्मक ध्वनि और २ अनक्षरात्मक ध्वनि

दूसरी तरह से–श्राव्यध्वनि और अश्राव्य ध्वनि।

जिन ध्वनि तरगो को हमारे कान पकड़ सकते हैं उसे हम श्राव्य ध्वनि कहते हैं, और जिस ध्वनि की कम्पन युक्त तरगो को हमारे कान नही पकड़ सकते हैं, वह अश्राव्यध्वनि है। सामान्यत हमारे कान प्रति सैकन्ड मे १६ से लेकर ३२,७६८ कपन युक्त तरगो को पकड़ सकते हैं, इससे अधिक कम्पन (Frequency) और लम्बी तरगे अश्राव्य (Ultrasonıc या Supersonıc) हो जाती हैं।

सामान्यत हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं, जैसे– मान लीजिये कि हम कमरे में बैठे हैं, जहाँ रेडियो, टेलीविजन या माइक की कोई व्यवस्था नही है

स्थिति मे हम कमरे मे बैठे व्यक्तियो की और कमरे के आसपास से आनेवाली आवाजो को सुन सकते हैं, इससे अतिरिक्त की नही। परन्तु हम यह भी समझते हैं कि अतिरिक्त काफी कुछ ध्वनियॉ तरगित हो रही हैं परन्तु हम उन्हें नही सुन सकते हैं। यदि इन तरगो को पकड़ा जाय तो वे यहॉ पर भी सुनी जा सकती हैं। इसका प्रमाण यह है कि इस समय कोई श्रवणध्वनि यत्र माइक, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीविजन आदि द्वारा भारत से ही नही विदेशो से Broadcast होती हुई आवाज भी हमे सुनाई देने लगती है। इस Technıque मे ये ध्वनि यत्र उन तरगो को पकड़कर हमारे कान पकड सके वैसी तरगो मे रूपान्तरित कर देते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ध्वनि तरगो का रस therapy को अब हमे अपने मे रूपातरित करने का मार्ग खोजना है। सामान्यत ये ध्वनि तरगे दो प्रकार की हैं–

१ साधारण वार्तालाप रूप और २ मानस तरगे।

इनमें दोनो की लम्बाई और शक्ति (Length and Strength) मे बहुत अन्तर है। जिसकी लम्बाई कम है उसमे शक्ति अधिक है। प्रथम सामान्य वार्तालाप मे हमारी ध्वनि तरगे १0 फीट दूर तक जाती हैं। इसमे विचार तरगें Wave Length कम हैं परन्तु इसकी Strength बहुत है। परिणामत वार्तालाप की ध्वनि तरगो को ऑधी, तूफान, वर्षा या अन्य आवाजो से प्रत्याघात या चोट पहुँचने से ये बिखर भी जाती है, परन्तु विचार तरगो पर इन सबका कोई असर नही होता। बल्कि कभी तीव्रता मे हजारो मील दूर की सफर ये बिना किसी बाधा के पार कर लेती हैं।

सामान्य शब्द अक्षर हैं पर योगीपुरुष जब इसे अपने चिन्तन की तरगो मे रूपातरित करते हैं तब ये अक्षर मत्र या स्तोत्र बन जाते हैं। भक्त साधक भक्तिपूर्ण एकाग्रता मे जब इस स्तोत्र की अक्षर तरगो के माध्यम से स्तोत्रकार मे निहित चिन्तन तरगो को स्वय की शक्ति तरगो मे समायोजित करता है तब स्तोत्र परिणाम प्रकट करता है।

रेडियो मे जो कार्य Crystal या Aerıal करते हैं, आध्यात्मिक प्राणशक्ति के जगाने मे वही कार्य स्तोत्र करते हैं। आकाशवाणी आपने देखी होगी, यहॉ पर स्पष्ट दिखाई देता है, कि शब्द तरगो को पहले विद्युत् तरगो मे बदला जाता है। यह graph
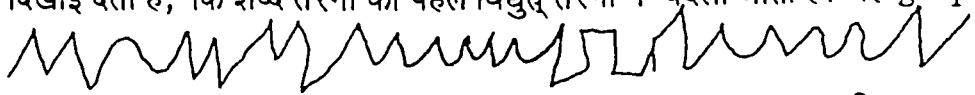
इस प्रकार विद्युतीय रूप मे रूपातरित होता है। फिर रेडियो का Aerıal विद्युत तरगो को पकडकर शब्दों मे बदल देता है और हम तक आसानी से पहुँचा देता है। महापुरुष मन्त्र स्तोत्रो मे स्वय की शक्ति को रूपातरित करते हैं, हम स्तोत्र के माध्यम से इसे पकड़कर आराधना द्वारा स्वय की शक्ति मे परिणत कर सकते हैं।

पन्नवणा सूत्र मे सिद्धान्त के अनुसार इन्ही विचारधारा को बहुत अच्छे तरीके से समझाया गया है।

जीव पहले भाषा द्रव्यो को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् वह उस भाषा को बोलता है अर्थात् गृहीत भाषाद्रव्यो का त्याग करता है। जीव कायिकयोग से (भाषा योग्य पुद्गलो को) ग्रहण करता है तथा वाचिकयोग से (उन्हें) निकालता है।

जीव जिन द्रव्यो को भाषा के रूप मे ग्रहण करता है उन्हें सान्तर (बीच मे कुछ समय का व्यवधान डालकर अथवा रुक-रुककर) भी ग्रहण करता है और निरन्तर (लगातार– बीच-बीच मे व्यवधान डाले बिना) भी ग्रहण करता है। अगर जीव भाषाद्रव्यो का सान्तर ग्रहण करे तो जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट असख्यात समयो का अन्तर करके ग्रहण करता है। यदि कोई लगातार बोलता रहे तो उसकी अपेक्षा से जघन्य एक समय का अन्तर समझना चाहिए। जैसे– कोई वक्ता प्रथम समय मे भाषा के जिन पुद्गलो को ग्रहण करता है, दूसरे समय मे उनको निकालता तथा दूसरे समय मे गृहीत पुद्गलो को तीसरे समय मे निकालता है। इस प्रकार प्रथम समय मे सिर्फ ग्रहण होता है, बीच के समयो मे ग्रहण और निसर्ग– दोनो होते हैं, अन्तिम समय मे सिर्फ निसर्ग होता है। जैसे–

0 ग्र	नि ग्र	नि ग्र	नि ग्र	नि ग्र	नि ग्र	नि ग्र	नि 0

इसमे जो अन्तर है उसे ही कम्पन रूप मे हम अनुभूत करते हैं। रेडियो आदि इसी पद्धति की विज्ञान आविष्कृत एक यात्रिक योजना है।

प्रश्न २–मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्तामर स्तोत्र हम में कैसे परिवर्तन ला सकता है?

उत्तर–मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्तामर को मैं Healing Process therapy की मान्यता देती हूँ। Healing therapy का विज्ञान एक ऐसी चिकित्सा देता है कि जहा हमारा प्राण-प्रवाह रुद्ध, अवरुद्ध हो चुका हो वहॉ के द्वारा प्राणऊर्जा आदोलित की जाती है। यह प्राणऊर्जा शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य इन दस विभागों में विभक्त है। चित्त शक्ति के द्वारा ये प्राणऊर्जा इन दशो विभागों मे निरतर रचनात्मक कार्य करती रहती है। स्तोत्र में सहयोजित वर्णमाला एक स्वीकारात्मक Positive एव रचनात्मक Constructive आदोलनों को जगाने मे बहुत अधिक सफल है। इसी कारण यह मानसिक या शारीरिक किसी भी रोग या प्रतिक्रिया से मुक्ति दिलाता है।

महापुरुष स्वय की प्राणशक्ति को साधना के बल पर व्यवस्थित कर लेते हैं। वही व्यवस्थित प्राणऊर्जा आन्दोलित होकर विविध शक्तियो के रूप मे परिणत होती रहती है। व्यक्ति की प्रत्येक गति इसी प्राणशक्ति आयाम के द्वारा विविध प्रयोजनो मे पर्यवसित या सीमित की जा सकती हैं। स्नायविक शक्ति प्रवाह (Nerve Current), गुरुत्वाकर्षण, चुबकशक्ति, विचारशक्ति, विविध शारीरिक क्रिया शक्ति आदि प्राणऊर्जाओ की विविध विकसित अवस्थाये हैं। ये आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनो रूपों में प्रयुक्त होती रहती हैं। यही कारण है कि महापुरुषों की योगविद्याएँ विज्ञान के सदर्भ में परिणति पाती रहती हैं।

वर्तमान मे व्याप्त दिव्यदृष्टि विद्या (Clairvoyance), मानसिक सक्रमण (Telepathy), आत्मवाद (Spiritualism), वशीकरणविद्या (Hypnotism) आदि सर्व प्राणायाम शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रयोगकर्ता अपनी सूक्ष्मतम अनावृत प्राणशक्ति को ही तीव्रता के साथ उपयोग मे लेता है। अपने प्राणो के विशिष्ट स्पदनो को वह किसी आधार से समायोजित करता है। ये आधार मन्त्र या स्तोत्र अधिक रहे हैं। अक्षर ध्वनियाँ बनकर हमारी अनावृत ऊर्जा को प्रकट करने मे परम सहयोगी सिद्ध होती हैं।

स्नायु प्रवाह दो प्रकार के होते हैं। एक ज्ञानात्मक या अन्तर्मुखी और दूसरे गत्यात्मक या बहिर्मुखी। इसमे ज्ञानात्मक स्नायु प्रवाह केन्द्र की ओर ले जाता है और मस्तिष्क को सवाद पहुँचाता है। दूसरा गत्यात्मक स्नायु प्रवाह केन्द्र से दूर मस्तिष्क के अगो मे सवाद पहुँचाता है। यद्यपि अत मे दोनो ही मस्तिष्क मे मिल जाते हैं। वहाँ ये स्नायु प्रवाह एक बल्ब की तरह अडाकार पदार्थ मे समाप्त हो जाते हैं। इसे मेडूला (Medulla) कहते हैं। यह रहता है मस्तिष्क मे परन्तु मस्तिष्क से अछूता और असलग्न रहकर एक तरल पदार्थ के रूप मे तैरा करता है। इससे सिर पर चोट लगने पर भी उसकी शक्ति तरल पदार्थ मे फैल जाने से बल्ब को आघात नही पहुँचता है।

अब हम बहिर्मुखी स्नायु प्रवाह की परिस्थिति का निरीक्षण करेंगे जिसका प्रभाव हम अन्य विद्याओ के माध्यम से देखते हैं। विद्युत्गति इसका मुख्य कारण है। वस्तुत विद्युतगति समस्त परमाणुओ की अनवरत एक दिशा मे गतिशील अवस्था मात्र है। किसी भी स्थान मे स्थित समस्त वायु परमाणु यदि एक ही ओर अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित किये जायँ तो वह स्थान महाविद्युत् धारायन्त्र Battery वत् हो जाता है।

दोनो स्नायु समूह पर विद्युत् का प्रयोग करने से उन दोनो मे धनात्मक और ऋणात्मक दो विपरीत शक्तियाँ उद्भूत होती हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि हमारी अपनी इच्छा शक्ति आत्मशक्ति (Will power) बनकर स्नायु प्रवाह मे परिणत होकर विद्युत् रूप बन जाती है।

अव पिच्चुटरी ग्रन्थि से स्रावित दूसरे प्रवाह का प्रभाव भी देखे। महापुरुष, जिनमे निरतर सद्भावनाये सप्रेषित (Flow) होती रहती हैं और उनकी पिच्चुटरी ग्रन्थि से A C T H नामक हार्मोन्स स्रावित होता है। ये स्राव अन्य में उद्भूत S T H नामक हार्मोन्स को प्रभाव रहित कर देता है। परिणामत महापुरुषो की ऊर्जा को Absorb करने से व्यक्ति रोग रहित भी होता है और दूषित भावनाओ से भी मुक्ति पाता है। इसी को भारतीय भाषा में आशीर्वाद, वरदान, कृपा या अनुग्रह का रूप माना जाता है। यह सृष्टि परिवर्तन का एक प्राकृतिक नियम वन जाता है। भारत की यह धरोहर सपूर्ण विश्व मे एक अनन्यता का रूप बनी हुई है।

भक्तामर स्तोत्र मे भक्ति द्वारा ऊर्जान्वित साधक की पिच्चूटरी ग्रन्थि से A C T H नामक हार्मोन्स निकलना शुरू होता है, परिणामत उसकी प्राणऊर्जा मे अल्फा तरगे आदोलित हो जाती हैं और वह समस्त मानसिक पीड़ाओ से मुक्त हो जाता है। स्वय आनद से भर जाता है और उसके पास जो भी आता है, प्रसन्न हो जाता हे। मै समझती हूँ इससे बड़ी तात्कालिक उपलव्धि और क्या हो सकती है ?

प्रश्न ३–दिव्यदृष्टि विद्या (Clairvoyance), मानसिक सक्रमण (Telepathy), आत्मवाद (Spiritualism) के वारे में विस्तार से समझना चाहता हूँ।

उत्तर–दिव्यदृष्टि, मानसिक सक्रमण, आत्मवाद ये सव चित्त की निर्मल प्राणधारा से उथित प्राणवायु की उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर या उच्चतम स्पदन प्रणालियाँ हैं। प्रयोगकर्ता मनोवृत्ति द्वारा अपनी चुवकीय मानसिक शक्ति को तीव्र गति से प्रयोग में लाता है। यह कई वार तो अनुभूतिपरक रहता है और कई बार प्रयोगकर्ता स्वय ही अपनी इस विशिष्ट शक्ति से अनभिज्ञ रहता है। योगीपुरुषों मे ये शक्तियाँ व्यापक रूप से प्रयुक्त होती रही हैं। वर्तमान युग मे जो प्रयोग प्रसिद्ध हैं वे इन विभिन्न सिद्धान्तो के नाम से प्रचलित होते रहे हैं।

१ दिव्यदृष्टि (Clairvoyance)—प्रयोगकर्ता अपनी विशिष्ट सम्मोहन शक्ति से सपन्न होकर किसी भी पात्र को सम्मोहित करने की चेष्टा करता हुआ उसे निर्देश देता है "तुम दिव्यदृष्टि को प्राप्त कर चुके हो, तुम प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार कर सकते हो, तुम्हारी चैतन्य शक्ति समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रही है .इत्यादि सम्मोहक वचनों का पात्र पर असर होता है और वह प्रयोगकर्ता के निर्देशन के अनुसार दृष्टि-सापेक्ष हो जाता है।

हैदराबाद कुसुम इण्डस्ट्रीज वाले श्रीमान् रतिलाल मेहता दिव्यदृष्टि का अपना एक अनुभूत प्रसग बताते हुए कहते थे कि तिब्वत के लामा लोग साधन विशेष से मस्तिष्क के विशेष अग को उत्तेजित कर दूसरे के प्राणमय कोष Etheric body को देखने की दिव्यदृष्टि प्राप्त करते हैं। उनके अनुसार इसमे विशेष दो जड़ी-बूटियों का प्रयोग होना । एक तो दातेदार औजार जैसी और दूसरी शलाका जैसी। इसमे प्रारभ में पहली

को विशेष मत्रो से अभिमत्रित करके उसकी आरी से ललाट की हड्डी को काटकर उसमे छेद करते हैं। बाद मे दूसरी शलाका रूप जड़ी-बूटी अभिमंत्रित कर छेद मे डाली जाती है। डालते समय इसे मस्तिष्क के विशेष भाग से टकराकर डाली जाती है जिससे वह उत्तेजित हो जाय और वह व्यक्ति दिव्यदृष्टि से सपन्न हो जाय।

२. **मानसिक सक्रमण**–यह भारत की मानी हुई विद्या है। इसमे आपस मे दूर रहे दो सबंधित व्यक्ति बिना किसी साधन प्रयोग के एक दूसरे को सदेश (Message) देते-लेते हैं। इस व्यापक सृष्टि मे हजारो मील दूर ये सदेश बिना किसी व्यवधान के अपनी यात्रा सफल कर पहुँचते हैं और पुन वहाँ का सदेश लेकर वापस लौटते हैं।

सामान्यत. कई बार व्यक्ति अपने विशिष्ट आवेगो के कारण दूर तक अपने भावो को फैला सकता है। परन्तु, उसे इस बात की प्रामाणिकता का अनुभव बिना प्रयोग के नही होता है। उदाहरणत –व्यक्ति भोजन तो करता है, और उन पदार्थों का फल भी पाता है, फिर भी समस्त पाचन तन्त्र से वह अनभिज्ञ रहता है। आहार को पचाने के लिए पाचनतन्त्र से काम लेने पर भी वह पाचनतन्त्र से अनभिज्ञ रहता है उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति भी मानसिक सक्रमण की प्रक्रिया से गुजरता अवश्य है, पर समझता नही है। अनजान मे भी कई बार वह प्यार के अधिकारो मे स्नेही मुझे इस समय याद कर रहा है ऐसा अनुभव करता है। इसी प्रकार बिना किसी कारण प्रसन्न या उदास भी होता है। अपनी आसपास की अवस्था या परिस्थिति मे वह प्रसन्नता, आनद या उदासीनता का कारण ढूँढ़ने का प्रयास करता है।

प्रयोग के जानने वाले यथोचित रूप मे प्रयोग के माध्यम से सदेश देते-लेते हैं। इसमे दो प्रयोगकर्ता दूर रहकर अपने निश्चित किये हुए समय मे मन्त्र स्मरण, स्तोत्र स्मरण, तालयुक्त प्राणायाम आदि द्वारा एक दूसरे से सबध स्थापित कर सदेश देते-लेते हैं। यह तालयुक्त प्राणायाम हाथ की कलाई मे अगूठे की ओर नब्ज देखने वाली नाडी की धड़कन की गति के अभ्यास से सिद्ध होता है।

इसमें सुखासन मे बैठकर नाडी की गति को १ से ६ तक गणनापूर्वक पूरक, १ से ३ तक आभ्यतर कुभक, पुन १ से ६ तक रेचक, फिर १ से ३ तक बाह्यकुभक किया जाता है। इसमे प्रति समय दोनो मे नियोजित मन्त्र स्मरण अनिवार्य है। मन्त्र से उत्पन्न ध्वनि प्राणवायु से सबध स्थापित कर विशिष्ट रूप से ऊर्जान्वित होकर दूर तक जाती है और वहाँ से प्रतिध्वनि के रूप मे सदेश लेकर वापस लौटती है, इसे बिना तार का यन्त्र (Wireless telegram) कहते हैं। इसमे प्राणवायु Telephone है और निर्धारित मन्त्राक्षर उसके Number हैं। इसे Transmigrals या Transmission System भी कहते हैं। इस प्रकार मानसिक सक्रमण के द्वारा अपनी विचार तरगे दूर-दूर भेजी जा सकती हैं।

विचार तरगो की गति मे ईथर (Ether) नामक एक व्याप्त तत्व की सहायता रहती है। यह ईथर तत्व तरगो की गति मे सहायता प्रदान करता है। सामान्यत विचारो की गति

की अपेक्षा विचार तरगो की गति सात गुना अधिक है। एक क्षण मे अनुमानत ये पृथ्वी की ४0 बार परिक्रमा लगाती हैं। इस कारण मानसिक सक्रमण मे व्यक्ति आपस मे विचार सप्रेक्षण करने मे सफल रहता है। दोनो अभियोक्ता अपने मनरूपी Acnal द्वारा विद्युत शक्ति की सहायता से अथवा अपनी योगजन्य प्राणशक्ति से अपनी विचार नरगो को विद्युत् तरगों मे परिवर्तित कर देते हैं। ये विद्युत् तरगे Space path (आकाश मार्ग) द्वारा निर्धारित जगह पहुँचकर पुन उसी क्रिया द्वारा विचार तरगो मे परिवर्तित होकर सामने वाले को सदेश देकर और लेकर पुन विद्युत् तरगो मे रूपातरित होकर लौट आती हैं।

३ आत्मवाद (Spiritualism)—इस प्रयोग मे प्लानचेट का उपयोग किया जाता है। इस पद्धति में पान के आकार के लकडी के एक पतले तख्ते पर दो तरफ धातु के दो पहिये लगाये जाते हैं। किनारे पर पेन्सिल लगाई जाती है, इसे प्लानचेट कहते हैं।

इस पर अगुली रखने से अगुली रखने वाले व्यक्ति के Magnetic power याने चुबकीय शक्ति से वह घूमने लगती है। कभी-कभी स्टील की कटोरी, छोटी टेबल पर या प्रायमस (स्टोव) पर भी अगुलियाँ रखकर यह प्रयोग किया जाता है। चुबकीय अनुसधान के अनुसार प्रयोगकर्ता के चित्त की एकाग्रता एव चित्तशुद्धि के कारण प्रश्नो के योग्य उत्तर मिलते रहते हैं।

प्राचीन विचारधारा के अनुसार प्रयोगकर्ता द्वारा मृत आत्माओ का इसमे आव्हान होता है और प्रश्नो के उत्तर बहुधा उनके ही द्वारा दिये जाने की व्यापक मान्यता भी बहु प्रचलित है। इस विचारधारा मे मृत आत्मा मृत्यु के समय अपने किसी दूरस्थ सबन्धी से कोई बात नहीं कह पाया हो तो वह अपनी प्रबल विचार शक्ति द्वारा ऐसे कुछ प्रयोगो के माध्यम से अपना काम कर सकते हैं। परन्तु, वस्तुत ऐसा नही है। Personal Magnetism द्वारा उस प्लानचेट विद्युत् साधन पर प्रयोगकर्ता अपनी विचारधारा आवर्तित करता है और अत मे वही आवर्तित विचारधाराए, ईथर की सहायता से उत्तर बनकर लौट आती हैं।

प्रश्न ४--भक्तामर स्तोत्र के सम्बन्ध में कई मत्र, यंत्र, ऋद्धि आदि प्रसिद्ध हैं। उनके बारे में आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर--भक्तामर स्तोत्र स्वय एक मत्र है, क्योंकि यह मन का समस्त प्रतिकूल किवा विघटन की स्थिति मे त्राण याने रक्षा करता है। मन का जो रक्षण कर सकता है, वही तो मत्र कहलाता है। व्यक्ति अपने जीवन के सभी प्रयत्नों में पूर्ण सफलता की इच्छा रखता है। हमारे यत्न का, प्रयत्न का रक्षण करता है वह यत्र कहलाता है। भक्तामर स्तोत्र प्रत्येक प्रतिकूल या विपरीत स्थिति में भी एक सफल योजना के साथ साधक का रक्षण कर उसे अनुकूलता का आनद प्रदान करता है, अत यदि आप मेरा अभिप्राय जानना चाहते हैं मैं कहूँगी कि इस स्तोत्र का प्रत्येक पद अपने आप में एक योजनामय यत्र है।

मत्र-यत्र-ऋद्धि आदि सबका काम उनके अधिष्ठाता देव को सिद्ध कर उनसे अपनी मनोकामना को पूर्ण करवाना है। भक्तामर स्तोत्र मे परम आराध्य को अधिष्ठान के रूप मे स्वीकार कर समापत्ति का सार्थक प्रयोग बताया गया है। मत्र से गर्भित इस स्तोत्र मे स्तुति से भी अधिक नमस्कार को महत्व देकर साधक को पुण्य के महापुज का स्वामी बनाया गया है। इस स्तोत्र का एक-एक अक्षर ही महामत्र है। इसके लिए स्वतत्र रूप से मत्र को जोड़ करके मत्र का आकर्षण बनाये रखने का कारण मात्र तत्कालीन परिस्थिति की विवशता ही रही होगी। जो एक महान मत्र है या फिर ऐसा कहें अनेक मत्र शास्त्र जिसमे प्रतिष्ठित हैं ऐसा यह स्तोत्र महापुण्य का पुज है। इसके अक्षर-अक्षर मे मन्त्रत्व ध्वनित होता है।

यह अनुभवसिद्ध है कि सपूर्ण भावो के साथ नाभि से उत्थित स्वर युक्त शब्द महापुरुषो के योग से महामत्र तत्र का स्वरूप या साधन बन जाता है। भक्तामर स्तोत्र बिना किसी बाधा के इस प्रमाणोपेत पूर्ति का आधार है। इसके प्रत्येक अक्षर के उच्चारण मे मत्र के आन्दोलन उत्पन्न करने की क्षमता है। इस आन्दोलन से विशिष्ट वातावरण और विशुद्ध वायुमडल का निर्माण होता है।

भक्तामर स्तोत्र की मूल सरचना के साथ अन्य किसी भी पद्धति का समावेश नही हो पाता है। न तो स्तोत्रकार को किसी भी देवी-देवता को आव्हान करना पडा है, और न किसी पदार्थ विशेष से यत्र-तत्र के रूप मे लोगो को आकर्षित करने का उपाय अपनाना पडा है। अपने विशुद्ध चित्त तत्र मे परमानदस्वरूप परमात्मा का ध्यान कर समस्त विकृतियो से रहित हो जाना, यही इस स्तोत्र का परमार्थ है, सफलता का रहस्य है। परन्तु समय पर इतिहास करवट बदलता है। मानवीय अभीप्साये अभिव्यक्ति का रूप लेने के लिये अन्य कई आकर्षण के आयामो से जुडती रहती हैं। उनकी पूर्ति के लिये स्तोत्र से अतिरिक्त ऋद्धि चाहिये, मत्र चाहिये, यत्र चाहिये, तत्र चाहिये, देवी-देवता का आव्हान चाहिये। तरह-तरह की वृत्तियो द्वारा उपलब्ध विविध प्रकार के यत्र आज इस स्तोत्र की महानता का कारण बन रहे हैं।

यत्र के सम्बन्ध मे षट्खडागम के चतुर्थ खड मे "**वेयणमहाधिकारे कद्दिअणियोगद्दार**" नामक अधिकार मे ४४ महाऋद्धिया आती हैं। यत्रो मे इन्ही महाऋद्धियो को प्रमुखता देकर यत्र निर्माण की एक प्राचीन पद्धति रही है। षट्खडागम के मत्र ४४ हैं परन्तु इन्ही ४४ पर से ४८ यत्र बनाये गये हैं। षट्खडागम दिगम्बर मान्यतावाला ग्रन्थ है और इनकी सख्या विवरण मे ४८ पद्य मान्य हैं। अत सभाव्य मान्यता के अनुसार यह किसी दिगम्बर मुनि या आचार्य से प्रणीत होने चाहिये। इन ऋद्धिसूत्रो के साथ कुछ बीज मत्र भी जोड दिये गये हैं।

इसके अतिरिक्त हरिभद्रसूरिजी म सा की ओर से भी एक अलग ही पद्धति से ४८ • त्र उपलब्ध होते हैं। हरिभद्रसूरिजी महाराज कौन से हैं? इसका निर्णय दुरूह है, परन्तु

यह तो निश्चित है कि ये श्वेताम्बर मान्यता वाले हैं। यह ४८ यत्र विधि उपरोक्त यत्र विधि से बहुत कुछ अलग है। दोनो ही यत्र विधि के मानने वाले अपने-अपने रूप मे इसे वास्तविक मानते हैं।

एक तीसरा मत परम्परागत मान्यता वाला है। इसमे यत्र तो नही है परन्तु मत्र अवश्य हैं। इनकी सख्या १९ हैं। इनमे प्रस्तुत मत्रो मे उपरोक्त कथित ४४ ऋद्धि मत्रो का एव अतिरिक्त कुछ विद्याओ का समावेश किया गया है। परन्तु, स्तोत्र की सफलता उसके पद्यो मे ही निहित है। यत्रप्रिय युग मे आकर्षण बनाये रखने हेतु इन प्रचलित मान्यताओ को स्वीकृति दी गई हो, ऐसा स्पष्टत प्रतीत होता है।

स्तोत्र मे ऊर्जान्वित अक्षर विशुद्ध Vibration उत्पन्न करते हैं ओर ये आदोलन हमारी मनोकामना के अनुसार फल देना प्रारभ करते हैं। साधना करते समय साधक के अग मे से निकलते स्रावो को किसी विशेष पदार्थ मे किसी विशेष पद्धति से संचित करके उससे अपने कार्य को सिद्ध करने की प्राचीन प्रणाली मत्र-यत्र के आकर्षण का कारण रही है। ताड़पत्र, भोजपत्र, सुवर्णपत्र, ताम्रपत्र या रजतपत्रो पर यत्र का आलेखन कर इस शक्ति का उपयोग किया जाता है। विशेष परिस्थितियो मे भक्तामर स्तोत्र की चमत्कारिक विस्तृति को वर्धमान करने हेतु इन आचार्यों ने इस प्रणाली का प्रचार किया। इस सृष्टि मे कुछ धातुएँ, सूत, कुकुम, धागा, केशर, कपूर आदि भावान्वित पदार्थ माने जाते हैं। इस कारण इनका उपयोग कर साधक की एकाग्रता और आकर्षण को वढ़ाया जा सकता है।

अत मे, यदि आप मेरे निजी अभिप्रायो को ही समझना चाहते हो तो मेरे लिए यह अनुभवसिद्ध है कि भक्तामर स्तोत्र स्वयंसिद्ध मत्र है, यत्र है। परम शक्ति-पुज है। परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण के भावो मे ये सब कुछ इसी मे निहित हैं। इसके लिए अन्य किसी विधि-विधान-प्रयोग या पदार्थ की आवश्यकता नही है। केवल भावपूर्वक स्तोत्र के पारायण से ही इसमे पूर्ण सफलता उपलब्ध है। किसी भी लौकिक मनोकामना के लिए इस स्तोत्र का उपयोग करना इस साधना सृष्टि के साथ मैं अन्याय समझती हूँ। किसी प्रकार की प्रतिकूलता का आना यह हमारे ही पापकर्म का कारण है। भावपूर्वक नमस्कार के साथ किया जाने वाला स्तोत्र पाठ इन पाप और कर्मो की निर्जरा करता है और विशिष्ट पुण्य का सपादन भी। जो सहज मिलता है उसे मागकर क्यो लिया जाय ? परम समर्पण के भावों मे दृढ़ मन स्थिति के सामने परिस्थिति का कोई मूल्य नही होता है। परिस्थिति में परिवर्तन यह ससार का नियम है और मन स्थिति की दृढ़ता से परिस्थिति पर विजय, यह साधना का नियम है। अत नमस्कार के भावो के साथ नियमित स्तोत्र पाठ जीवन की सफलता का एक सार्थक प्रयोग है।

प्रश्न ५–अधिकांश लोग चमत्कारों के कारण भक्तामर स्तोत्र को मानते हैं। इस बारे में आपका क्या अभिप्राय है? क्या वर्तमान काल में आपको इस स्तोत्र के चमत्कार का कोई अनुभव हुआ है?

बम्बई रहते थे। उस समय पहली बार उन्होने प्रवचन के द्वारा इस स्तोत्र का महत्व सुना। फलत उनके मन मे स्तोत्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। तद्भूत जिज्ञासाओ के शमन के लिए ये प्रतिवर्ष हमसे सपर्क करते रहे। इस चातुर्मास की पूर्णाहुति पर लाल भवन मे इन्होने शीलव्रत एव नियमित भक्तामर स्तोत्र पारायण का नियम लिया। जयपुर से अहमदाबाद लौटने के तीन-चार दिन बाद अचानक पेट मे भयकर दर्द हुआ। बढ़ती हुई इस वेदना ने दो-तीन दिन बाद अस्पताल मे भयकर रूप ले लिया। परिणामत डॉक्टरो ने इसकी काफी गभीरता बताई। इनकी धर्मपत्नी श्रीमती मधुकान्ताजी घबरा गईं। इसी समय प्रवीण भाई ने कहा कि तुम घबराओ मत, परन्तु भक्तामर स्तोत्र के ४६ वे पद्य का पाठ कर इसका अभिमन्त्रित जल मुझे पिलाओ। मुझे विश्वास है कि इससे मुझे आराम हो जायेगा। अपने परिचर्या काल मे भी आप नियमित स्तोत्र पाठ पारायण करते रहे। इसी दृढ़ता, एकाग्रता एव परमात्मा के प्रति रही श्रद्धा ने डॉक्टरो की घबराहट के बीच मे भी स्वस्थता का सफलता पूर्ण समाधान प्रस्तुत किया।

यह तो अहमदाबाद की घटना है, परन्तु अभी-अभी चातुर्मास काल मे अमरजैन मे डॉ पारस सूर्या के पास करीब २२ वर्षीय लड़की का एक केस आया था। इसकी अस्वस्थता का निदान करते हुए डॉ ने तरह-तरह के इलाजो से उपचार किया। खून की कई बोतले चढ़ने के बाद भी जब कोई परिणाम नही आया तब स्वय डॉ ने अतिम उपचार करते हुए उसके पिता से कहा कि अंतिम इलाज अब हो रहा है। अब तो इस बेटी के प्रारब्ध पर ही निर्भर रहना पडेगा। आप एक काम कीजिए। पास मे लालभवन मे साध्वी जी म सा से सम्पर्क करें। जो इलाज दवा से नही होता है वह दुआ से हो सकता है।

डॉ सूर्या जी के इस इलाज को अजमाने के लिए वे भाईसाब लालभवन आये और पू दर्शनप्रभाजी म सा से बात करते हुए उन्होने अपनी चिता व्यक्त की। उनकी अभिव्यक्ति को सुनकर पू दर्शनप्रभा जी म सा ने उन्हें खड़े रहकर भक्तामर स्तोत्र का पाठ कर अभिमंत्रित जल लड़की को पिलाने का कहा। प्रयोग के कुछ ही घटो मे पुत्री को स्वस्थ हुई जानकर वे प्रसन्न हुए। डॉ पारस को भी उन्होने इस वास्तविकता से अनुभूति करवाई।

आज भी डॉ पारस जी कहते हैं– जब मुझे किसी के भी इलाज मे अधिक खतरे की सभावना लगे तब मै नवकार मन्त्र का स्मरण कर इलाज करता हूँ तो दर्दी स्वस्थता पाते हैं, मैं आश्वासन पाता हूँ। यह मेरी अपनी अनुभूति है। और इससे मै यह मानता हूँ कि आराधना से साधक की ऊर्जा मे परिवर्तन सभव है।

आबू पर्वत पर Sunset Point है। प्रात काल यह बहुत ही सूना रहता है। अनुयोग प्रवर्तक पू श्री कन्हैयालालजी महाराज शाहपुरा के सेवाभावी गजेन्द्र मेहता के साथ परिभ्रमण करते हुए स्थंडिलभूमि के लिए पर्वत की एक उपत्यका पर पधारे थे। लौटने की तैयारी मे थे उसी वक्त दहाड़ता हुआ एक शेर लपलपाती हुई ऑखो के साथ सामने खड़ा हो गया। शेर को सामने देखकर वातावरण भयाक्रान्त हो गया। राजेन्द्र मेहता

महाराज श्री के निकट खड़ा हो गया। उसी वक्त महाराज श्री ने इस स्तोत्र के ३९वे पद का पाठ शुरू किया। कुछ ही मिनिटो मे वह शेर सर्कस के शेर की तरह यत्रवत् वापस लौट गया।

एक बार हम लोग केकडी से जैतारण जा रहे थे। एक रास्ता रोड-रोड से ब्यावर होते हुए था और दूसरा रास्ता कच्चा था जो बीच-बीच मे जगलो और खेतो से होता हुआ जैतारण पहुँचता था। वह थोड़ा कम होने से हमने उस पर चलना तय किया। चलते हुए हम खरवा से गोला पहुँचे। गोला से आहार-पानी करके हमे आगे चलना था। आहार-पानी की व्यवस्था वहाँ कम होने से रात्रि विश्राम वहाँ करने का इरादा नही था। गोला से हमने प्रस्थान किया तब प्रारभ के ३-४ कि मी तक तो हमे कोई न कोई मिलता रहा। बाद मे पगडडी से होकर रास्ता आगे मिलेगा ऐसा वहा के लोगो के कहने से हमने पगडडी पर चलना शुरू किया। परन्तु, आगे चलकर पगडडी पूर्ण हो गई। शाम होने मे कुछ ही समय बाकी था। वापस लौट नही सकते थे। खेत और कूए की परिसीमाएँ समाप्त हो चुकी थी। अपरिचित और अनभिज्ञ हमने वहाँ वटवृक्ष के नीचे कुछ समय सोचने मे ही गुजारा। जब कोई रास्ता नजर नही आया तब हमने भक्तामर स्तोत्र का पाठ शुरू किया। इसी वक्त हमारी आवाज को सुनकर एक आदिवासी महिला वहाँ आयी और कहने लगी तुम शहर के आदमी ऐसे जगलो मे क्यो आये? आगे कहाँ जाना चाहते हो? यहाँ तो जगली जानवरो का बहुत उपद्रव है। उसके यह कहते ही कहते एक भालू सामने आकर खड़ा हो गया। वह महिला घबराकर कहने लगी, 'मै भी अपना साधन छोडकर आयी हूँ अब क्या होगा?' हमने उसकी घबराहट को दूर करते हुए उसे चुप रहने का संकेत दिया और हमने नमोकार मन्त्र और स्तोत्र पाठ शुरू किया। भालू चुपचाप लौट गया। आदिवासी महिला आश्चर्य और कौतूहल के साथ देखती रह गई और शहर तक हमे रास्ता बताती हुई चलती रही। रास्ते मे हमने उसे जानवरो को नही मारने के बारे मे समझाया। प्रेम से परमात्मा का स्मरण करो। ये प्राणी भी प्रेम से वश मे होते हैं। अभय देने से अभय मिलता है। बातचीत के दौरान चलते हुए हम लोग सुमेर नाम के गाँव मे पहुँचे। छोटे से कस्बे में रात गुजारना हमने उचित समझा। रात मे वह आदिवासी महिला कई आदिवासी लोगो के साथ आयी और हमारा अपनी भाषा मे टूटा-फूटा परिचय देने लगी। उन सबको समझाने पर उन्होने जानवरो को नही मारने की प्रतिज्ञा की।

ई. सन् १९७१ की यह घटना है। हम आकोलां (महाराष्ट्र) से इदौर (मध्यप्रदेश) की ओर विहार करते हुए जा रहे थे। खडाला से आगे करीब ४० कि मी पर जगल आता है, वहाँ हमने पहाड़ की एक चोटी पर बने हुए मकान में विश्राम लिया। वहाँ के लोगो ने हमे इस बात की चेतावनी अवश्य दी थी कि पास के तालाब में पानी पीने के लिए आने वाले शेर इस रास्ते से गुजरते हैं, इसलिए हम कोई भी इस चोटी पर कभी नही रहते हैं। यदि किसी खास मौके पर रहने की आवश्यकता होने पर हम अग्नि का प्रबध रखते हैं। हमने उसे कहा कि अब समय भी नहीं है कि हम स्थानातर करें, अत अपने इष्ट स्मरण से

हुए लोग नीचे उतरे। इतने मे किसी का ध्यान गड्ढे मे होने वाली हलन-चलन की ओर गया। बच्चा भीतर से बाहर निकलने का खुद ही प्रयास कर रहा था। अत बाहर ऊपर की ओर इस प्रकार की हिलचाल हो रही थी। सबंधियो ने बडी हिम्मत से गड्ढे को खोदने का साहस जुटाया और वास्तविकता का पता लगाया। बच्चे का प्रारब्ध समझो या स्तोत्र का चमत्कार, पर बच्चा गड्ढे से बाहर निकल सका। जो बिलकुल असभव लगता था, वह सहज सभव हो सका। आज भी वह बच्चा बडा होकर अपने परिवार के साथ विदिशा मे रहता है। वह कहता है, पता नही मुझे कहॉ से इतना बल और शक्ति मिल रही थी कि मै बाहर निकलने का प्रयास कर रहा था। इधर नौवा भक्तामर होते-होते ही बच्चा मिल जाने की खुश खबरी से वातावरण तनावरहित हो गया था।

इसी प्रकार पाली मे एक अजीब सा प्रसग हुआ। समाज के अध्यक्ष श्रीमान् घीसुलालजी मुथा के पुत्र मिलापचद जी रहते हैं। प्रात काल घर से दुकान जाते हुए पता नही कौन किस प्रकार कहॉ उनको ले गया। परिवार वालो को पता लगते ही खोज-बीन चालू हो गई। तनावपूर्ण वातावरण मे भी मिलापचद जी की भाभी श्रीमती कमलादेवी भागी हुई स्थानक (रघुनाथ स्मृति भवन) मे हमारे पास आयीं। हमने उन्हें आश्वासन देकर नमोकार मन्त्र की माला और एक भक्तामर, पुन एक माला और भक्तामर इस प्रकार जाप क्रम जारी रखने को कहा। जाप के प्रभाव से समझो चाहे भाग्य परन्तु मिलापचद जी वापस लौट आये।

एक विचित्र अनुभव हमे और हुआ है। एक बार हम खपोली से विहार कर चोक की ओर जा रहे थे। प्रात काल वर्षा हो जाने से विहार देर से हुआ। आहार-पानी लेकर हम लगभग ११/३० बजे खपोली से रवाना हुए। ३ कि मी पार कर लेने पर देखा तो हमसे दशेक कदम पीछे एक अजीब सी महिला चल रही थी। जिसकी लबाई सात-आठ फीट थी। आकृति भी अजीब सी थी। जमीन को नही छूती हुई वह तेज चलती थी, लेकिन चलते वक्त उसके दोनो हाथ स्थिर रहते थे। हमने हिम्मत कर जोर से स्तोत्र पाठ का स्मरण किया और करीब १२ कि मी का वह पथ हमने जाप से सपन्न किया। चोक पहुँचने से पूर्व ही कुछ दूरी पर हमने देखा तो पीछा करती हुई वह महिला अदृश्य हो गई थी। यह प्रसग इतना अविस्मरणीय है कि याद आते ही लगता है जैसे आज अभी घट रहा हो।

भक्तामर स्तोत्र के द्वारा अरिहत परमात्मा की भक्ति करने का सुअवसर आज के युग मे उपलब्ध करना यही सबसे बड़ा चमत्कार है। मुझे इसकी उपलब्धि ही बड़े चमत्कारी ढग से हुई है। अरिहत परमात्मा पर अनुसधान करते समय एक बार ऐसी रुकावट आ गई कि आगे कोई रास्ता ही नही सूझ रहा था। अनेक प्रयासो के बाद भी जब काम न जम सका तब निराश होकर मै जाप करती हुई सो गई। रात के करीब ३ बजे स्वप्न मे ही पद्य ३६ का जाप मेरे से हो रहा था। वीतराग परमात्मा के परम शरण स्वरूप चरणो पर अपना मस्तक रखकर नमस्कार की मुद्रा मे समर्पित हो रही थी और मुझे कोई

ठाणाग सूत्र की प्रति खोलकर वह पद वृत्तिसहित पढ़ा रहा था, वह पद जिसकी मै खोज कर रही थी। उसकी प्रसन्नता मे मेरी नीद खुल गई। प्रात काल की आराधना कर तुरत ही मै अवसर पाकर जैन साहित्य विकास मडल पहुँची। श्री प्रताप भाई मेहता के सहयोग से भडार जो प्रतिदिन दश बजे खुलता है उसे ७ बजे ही खुलवाया गया। स्वप्न मे देखी हुई वे पंक्तियॉ झिलमिलाती हुई मेरे जीवन को छू गई। मेरे जीवन की प्रगति का विकास वही से प्रारभ हुआ। जीवन की सपूर्ण सफलता का यह शुभारभ था। यह अभूतपूर्व प्रेरणा मेरे जीवन का सयोजन बन गई। आज भी यही ३६वा पद मेरे सपूर्ण जीवन का आधार है। भक्तामर स्तोत्र के ऊपर पायी हुई सारयुक्त उपलब्धियो का मूलाधार यह पद है। यह पद मेरे जीवन की निधि है, संनिधि है और उपलब्धि है।

किसी भी भौतिक वस्तुओ की उपलब्धि के लिये आराधना कर आराध्य से मॉगने के विचारो के मै खिलाफ हूँ। क्योंकि, बाह्य प्रसगो की अपेक्षा भी भक्तामर स्तोत्र की सर्वोपरि विशिष्टता तत्काल कषाय उपशमन करने की है। इससे बडा चमत्कार ओर क्या हो सकता है? बिना मागे ही स्तोत्र पाठ के द्वारा मैने कई बार अभीष्ट सफलता पाई है। कई बार साप्रदायिक वातावरण के कारण सघो मे जब आपसी टकराव होते हैं तब दोनो पक्षो को शान्ति और समाधि पदान कर मानसिक अशान्ति दूर करने मे भक्तामर स्तोत्र बडा सफल रहा है। ऐसे तो कई प्रसग आये हैं लेकिन एक नवीन प्रसग भी सुन लीजिए।

जोधपुर महामदिर मे दो विरोधी पक्ष हमे महामदिर के आगमन का निमत्रण दे गये। स्वीकृति देकर हमने वहॉ पहुचना अनिवार्य समझा। परन्तु, एक पक्ष को बाद में असतोष हुआ और उन्होने हमारे वहॉ नही पहुँचने के अनेक प्रयास किये। सघ की ऐक्यता को बनाने और साप्रदायिक दूषणो को हटाने के उद्देश्य से हमने विरोधी वातावरण मे भी स्थानक मे प्रवेश किया। हम सबने और सघ के कई लोगो ने सघ की शान्ति हेतु उस दिन आयंबिल किये। दोपहर को एक घटा शान्ति जाप और एक घटा भक्तामर जाप करवाया। विरोधी शात तो हो गये लेकिन प्रशात नही हो पाये। अत उसी दिन से प्रतिदिन जाप चालू रखे। धीरे-धीरे सारे विरोध और अवरोध समाप्त हो गये। आज भी वहॉ प्रतिदिम स्तोत्र पाठ चालू है।

एक बार एक सुनसान पथ पर सामने से आता हुआ एक ट्रक हमारे विहार मार्ग पर रुक गया। ट्रक मे से दो-तीन पहलवान जैसे आदमी नीचे उतरे। उनकी [illegible] से भरी निगाहें, उनकी भावनाओ को छिपा नही सकीं। हमने तुरत ही ३६वें पद का स्मरण और नमस्कार महामन्त्र के जाप शुरू किये। आपको क्या बताऊँ, ऐसा चमत्कार हुआ कि वे पहलवान न तो कुछ बोल पाये और न कुछ कर पाये। सब देखते रहे और हम उनका रास्ता काटकर आगे निकल गये।

जिसके अक्षर-अक्षर मे रहस्य भरे हुए हैं
जितनी महानताएँ अनुभव में लावें उतनी हैं